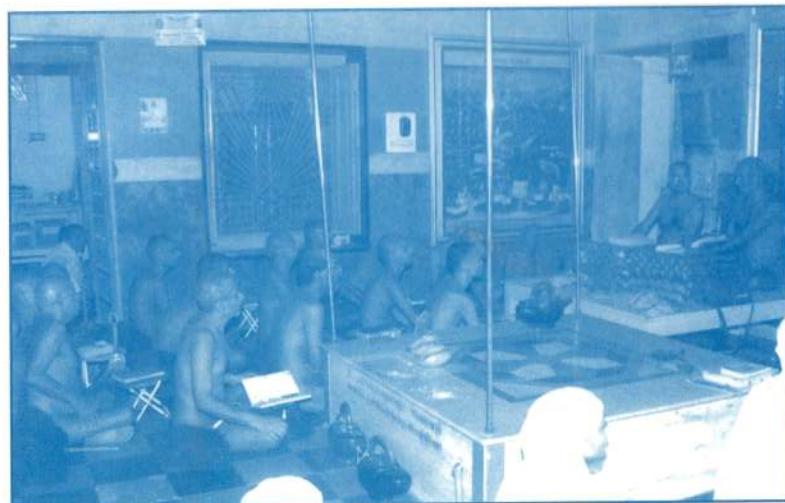


भारतीय तथ्य जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञान धारा—16)

मानव मन की विकृतियों का अनुसंधान : प्रायोगिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से

(मेरे द्वारा शिक्षा, विज्ञान, धर्म, मानव, समाज, राष्ट्र, राजनीति,
कानून, विश्व आदि की कमियों को लिखने—कहने
के कारण एवं परिणाम)



आचार्य कनकनन्दी स्वसंघ तथा आचार्य विरागसागरजी संसंघ
(प्रायः 43 साधु—साध्वी) को समयसार का अध्यापन कराते हुए।
(दूंगरपुर—2010)

आचार्य कनकनन्दी

भारतीय तथ्य जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञानधारा-16)

मानव मन की विकृतियों का अनुसन्धान :

प्रायोगिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से

(मेरे द्वारा शिक्षा, विज्ञान, धर्म, मानव, समाज, राष्ट्र, राजनीति, कानून, विश्व आदि की कमियों को लिखने-कहने के कारण एवं परिणाम)

-: पुण्य स्मरण :-

विश्व धर्मसभा, मेलबोर्न में आचार्य श्री कनकनन्दी जी के शिष्य डॉ. नारायणलाल कछारा का "जैन कर्म सिद्धान्त एवं विश्वशान्ति" विषय पर उद्बोधन एवं प्रतिभागी ; उपकुलपति प्रो. डॉ. सोहनराजजी तातेड के प्रयास से 11 प्रदेश के 27 विश्वविद्यालयों में आचार्य कनकनन्दी साहित्य कक्ष की स्थापना तथा शोधकार्य; 32वाँ शिविर, विदेश की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था 'पीस नेक्स्ट' में आ. कनकनन्दीजी के सदस्य (1466) बनने; एवं इंगलैण्ड में जैनधर्म की प्रभावना, डॉ. कछाराजी द्वारा विदेशीयों के लिए दिल्ली में उद्बोधन के उपलक्ष्य में.....

ग्रन्थांक : 189 प्रथम संस्करण : 2010

प्रतियाँ : 1000 मूल्य : 41 रु.

- द्रव्यदाता : 1. गुप्तदानी (अमेरिका)
2. धर्म-दर्शन-विज्ञान शोध संस्थान
3. धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

-: प्राप्ति स्थान :-

धर्म दर्शन सेवा संस्थान, द्वारा श्री छोटूलालजी चित्तौड़ा चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313 001

फोन नं. : (0294) 2413565, 694114

-: सम्पर्क सूत्र :-

डॉ. नारायणलाल कछारा (सचिव)

55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313 001

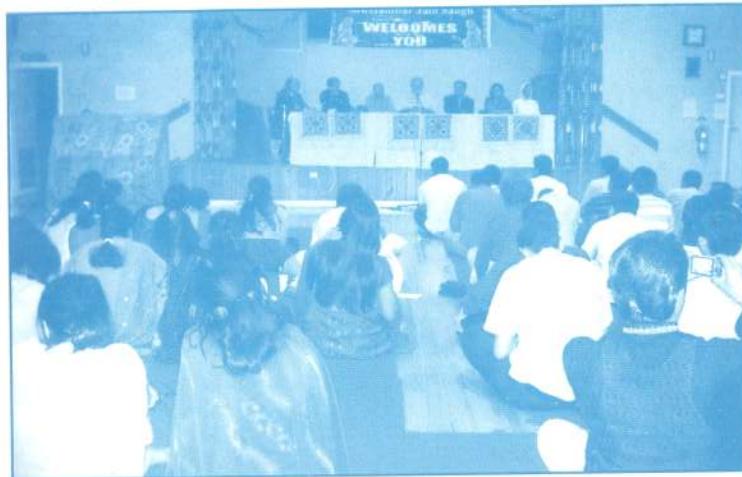
फोन नं. : (0294) 2491422, मो. : 9214460622

ई मेल : nlkachhara@yahoo.com

-: लेखक :-

आचार्य श्री कनकनन्दीजी गुरुदेव

विश्वधर्म संसद



मेलबोर्न-विश्वधर्म संसद के जैन प्रतिनिधि और स्थानीय जैन समाज का संयुक्त जैन कम्युनिटी नाइट कार्यक्रम। इस विश्व धर्म संसद में आ. कनकनन्दी के प्रतिनिधित्व के रूप में डॉ. कछारा ने भाग लिया। (2009)

विश्वविद्यालयों के कार्यक्रम



भारत के 10 प्रदेशों के 27 वि.वि. में आ. कनकनन्दी साहित्य कक्षों की स्थापना एवं शोधकार्य सम्बन्धी जानकारियाँ देते हुए प्रो. डॉ. तातेड। तातेडजी स्व. महाप्रज्ञ के भक्त तथा आ. कनकनन्दी द्वारा आशीर्वाद प्राप्त संस्थान के सरक्षक है। (गुरुभक्त सांस्कृतिक ग्राम रामगढ़-2010)

ग्रन्थ परिचय एवं मेरा लक्ष्य

जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण को 16 बार अग्नि के ताप के माध्यम से शुद्ध सुवर्ण बनाया जाता है उसी प्रकार प्रस्तुत कृति में शिक्षा से लेकर भावना रूपी 16 तापों का वर्णन है जिसके माध्यम से मानव से महामानव, जीव से जिनेन्द्र, जीवात्मा से परमात्मा, पतित से पावन, असफल से सफल, अविकसित से विकसित, दुःखी से सुखी, गुलाम से मालिक बन सकते हैं। परन्तु ताप से तपकर गलकर जब तक अशुद्ध सुवर्ण स्व—अशुद्धता को त्याग नहीं करता है तो शुद्ध नहीं बनता है उसी प्रकार मानव यदि इस पुस्तक में वर्णित 16 ताप के माध्यम से तपकर गलकर स्व—अशुद्धता को त्याग नहीं करेगा तब तक यह पुस्तक या और कोई भी धार्मिक — नैतिक — पाठ्य पुस्तक — अर्थशास्त्र — कानूनी, मैनेजमेंट कोर्स अथवा धार्मिक — लौकिक — सलाहकार गुरु भी किसी को भी श्रेष्ठ — आदर्श — सफल नहीं बना सकते हैं।

यह कृति मुख्यतः मैं मेरे आत्मशोध—विकास के लिए लिखा हूँ। “बिन जानन ते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये” के अनुसार मैं सबसे पहले स्व गुण—दोष को जानकर श्रेष्ठ—ज्योष्ट—आदर्श—सफल बनना चाहता हूँ; इसके साथ—साथ “परोपकाराय सतां विभूतयः” के अनुसार मेरी सहज जन्मजात प्रवृत्ति के अनुसार राष्ट्र से लेकर विश्व कल्याण भी करना चाहता हूँ। इन सब लक्ष्यों को केन्द्र करके मैंने जो देश—विदेश के विभिन्न महापुरुषों के साहित्य का अध्ययन किया, महापुरुष ज्ञानीजन, गुणीजन से सकारात्मक शिक्षा प्राप्त की तथा दोषी, दुर्गुणी से भी सज्जनों से भी जो अधिक शिक्षा प्राप्त हुई (अतः वे भी मेरे गुरु हैं) अर्थात् उनकी कमी एवं दोषों से उन्हें एवं दूसरों को जो हानियाँ पहुँचती हैं उससे बचने के लिये मुझे जो शिक्षाएँ प्राप्त हुईं एवं बाल्यकाल से लेकर अभी के आचार्य जीवन तक मुझे जो विभिन्न क्षेत्रों के अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों से, सफलता एवं विफलताओं से जो मुझे प्रायोगिक अनुभव हुआ उन सबका संक्षिप्त दिग्दर्शन इस लघु परन्तु मार्मिक, सूक्ष्म व्यापक, बोधप्रद, प्रेरणास्पद तथा मार्गदर्शक वर्णन इस कृति में किया गया है, इसके माध्यम से स्व—पर—विश्वकल्याण हो ऐसी मेरी पवित्र भावना है।

आ. कनकनन्दी

दि. 13.5.2010 गुरुवार

द्वि. वैशाख कृष्ण 14 सायं : 7.31 बजे
दूंगरपुर प्रवास में

विषयानुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृ.सं.
मानव मन की विकृतियों का अनुसंधान :		
प्रायोगिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से		
गुरु कुम्हार कुम्ह शिष्य है, गढ़—गढ़ काढ़ खोट		
1.	सुशिक्षा से विकास तो संकीर्ण शिक्षा से विनाश	8
2.	अभी भी अपूर्ण है विज्ञान	9
3.	सर्वोदयकारी धर्म हितकर है न कि रुद्धिवादी धर्म	10
4.	महान् गुणशाली मानव ही महान् है, न कि प्रत्येक मानव	12
5.	सज्जनों के समूह ही समाज है, न कि भीड़	15
6.	भौगोलिक भूखण्ड ही राष्ट्र नहीं है अपितु वहाँ की प्रजा एवं संस्कृति ही राष्ट्र है।	18
7.	राज्य की समृद्धि की नीति ही राजनीति है, न कि प्रजा की शोषण की नीति	20
8.	वैशिक भाव व्यवहार से विश्वशान्ति सम्भव है, न कि तानाशाही से	23
9.	जीवन निर्वाह के लिये धन है, न कि धन के लिये जीवन	27
10.	नगर को नरक बनाने से बचाएँ	28
11.	महान् व्यक्तित्व वाला बड़ा आदमी होता है, न कि सत्ता—सम्पत्ति वाला	31
12.	शान्ति की प्राप्ति ही यथार्थ से विकास/सफलता है, न कि भौतिक उपलब्धि	34
13.	प्रशंसनीय कार्य करें, न कि प्रसिद्धि के लिए	40
14.	प्राचीन एवं आधुनिक कानून के गुण—दोषों की समीक्षा	45
15.	सुबुद्धि से विकास तो कुबुद्धि से विनाश	52
16.	सुभावना से विकास तो कुभावना से विनाश	67
17.	अयोग्य शिष्य—श्रोता	77
परिशिष्ट		
18.	भारत के घर—गली की वधशाला/यातनागृह बन्द हो	79
19.	जीवनोपयोगी सामान्य ज्ञान (G.K.) ही असाधारणज्ञान (सामान्य ज्ञान (G.K.) में क्यों कमजोर होते जा रहे हैं भारतीय?)	83
20.	मानव की पाश्विक प्रवृत्तियों के कारण—परिणाम—निवारणोपाय	93
21.	भारतीयों के लिये आह्वानकारक खुला—पत्र	104
22.	विभिन्न जीवों को सीखने के माध्यम	108
23.	जीवन्त प्रायोगिक पाठशाला	109
24.	भो भारतीय ! न ही पाश्चात्य संस्कृति की निन्दा करो ! न ही अपसंस्कृति को अपनाओ !	125

मानव मन की विकृतियों का अनुसन्धान :

प्रायोगिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु कुम्हार कुम्हशिष्य है, गढ़—गढ़ काढ़े खाट

(मेरे द्वारा शिक्षा, विज्ञान, धर्म, मानव, समाज, राष्ट्र, राजनीति, कानून,
विश्व आदि की कमियों को लिखने—कहने के कारण एवं परिणाम)

— आचार्य कनकनन्दी

कथञ्चित् मौन से भी श्रेष्ठ सत्य कथन —

समतापूर्वक, मन—वचन—काय से मौन पूर्वक ध्यान—अध्ययन साधन—लेखन आदि करना श्रेष्ठ है तथापि विशेष परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार हितकर—सत्य वचन बोलना मौन से भी श्रेयस्कर है। इसलिए मनुस्मृति में कहा है—मौनात्सत्यं विशिष्यते। जैनाचार्य ने भी कहा है— मौन रहें या सत्य कहें—

मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।

वचोवाचि प्रियं तथ्यं सर्वसत्त्वोपकारियत ॥६॥

पुरुषों को प्रथम तो समस्त प्रयोजनों का सिद्ध करने वाला निरन्तर मौन ही अवलम्बन करना हितकारी है और यदि वचन कहना ही पड़े तो ऐसा कहना चाहिए जो सबको प्यारा हो, सत्य हो और समस्त जनों का हित करने वाला हो।

धर्मनाशो क्रियाधंसे सुसिद्धान्तार्थं विप्लने ।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपं प्रकाशने ॥ (ज्ञानार्णव)

जब जहाँ सत्यधर्म का नाश होता हो, यथार्थ क्रिया का धन्स होता हो समीचीन सिद्धान्त अर्थ का अपलाप, विनाश होता हो उस समय सम्यक् धर्म क्रिया और सिद्धान्त के प्रचार—प्रसार, सुरक्षा के लिए बिना पूछे भी सज्जनों को बोलना चाहिए क्योंकि इससे धर्म की रक्षा होती है जिससे स्व—पर—राष्ट्र की सुरक्षा समृद्धि होती है।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।

जिनशासन महात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ (18)

अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार को दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जिनशासन के अनुसार महात्म्य को प्रकट करना प्रभावनागुण है।

रसउवा परो मा वा, विसंवा परियतउ ।

भासियवा हिया भासा सपक्खगुण करिया ॥ (श्वे. साहित्य)

जिसे उपदेश दिया जाता है, वह चाहे रोष करे, चाहे उपदेश को विषरूप समझे परन्तु उपदेशक को हितरूप वचन अवश्य कहना चाहिए।

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितं श्रवणात् ।

त्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥

उपदेश सुनने वाले सभी श्रोताओं को पुण्य नहीं होता है क्योंकि जो उपदेश अच्छी भावना से सुनता है, उसे पुण्य होता है। जो शुभ भावना से नहीं सुनता है, उसे पुण्य नहीं होता है, परन्तु जो परोपकार की भावना से अनुग्रहबुद्धि से हितकर उपदेश करता है उसे अवश्य ही पुण्य होता है।

इसीलिए तो पञ्चनमस्कार मन्त्र में सिद्ध भगवान के पहिले अरिहन्त भगवान को नमस्कार किया गया भले सिद्ध भगवान अरिहन्त भगवान् से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि सिद्ध भगवान् उपदेश नहीं देते हैं तथा अरिहन्त भगवान् उपदेश देते हैं। इसीलिए तो मार्गदर्शक—हितोपदेशी गुरु का स्थान सर्वोपरि है। ज्ञानदान/हितोपदेश को सबसे बड़ा पापरहित दान कहा गया है और ज्ञानदानी को गुरु कहा गया है। आहार, औषधि, अभ्यदान करने वाने दानी, पुण्यात्मा होते हुए भी गुरु नहीं है, गुरु के जैसे श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, पूजनीय नहीं है। यदि तीर्थङ्कर, केवली, गणधर, आचार्य उपाध्याय, साधु, शिक्षक, समाज सुधारक, महान् क्रान्तिकारी नेता, माता—पिता आदि हितोपदेश, शिक्षा, मार्गदर्शन नहीं देंगे तो मानव समाज का विकास ही रुक जाएगा।

हित—मित—प्रिय या हित—अमित—अप्रिय—

सामान्य जन के लिए सामान्य परिस्थिति में तो हित—मित—प्रिय वचन ही श्रेष्ठ हैं परन्तु विशेषज्ञ (हिताकांक्षी, सहृदयी, गुरु, माता—पिता, अभिभावक, डॉक्टर, वैद्य, न्यायाधीश आदि) के लिए विशेष परिस्थिति में विशेष, विशेष व्यक्तियों के लिए हित—मित—प्रिय से भी हित—अमित—अप्रिय वचन श्रेयस्कर है, श्रेष्ठ है, कथनीय है। जैसा कि —

गुरु कुम्हार कुम्भ शिष्य है, गढ़—गढ़ काढ़े खोट।
 अन्दर हाथ पसारकर, ऊपर मारे चोट॥
 परोपकारायददाति गौः पयः, परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः।
 परोपकाराय वहन्तिनद्यः, परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः॥

जैसा कि रोग को दूर करने वाली कड़वी औषधि, रोग को वृद्धि करने वाले मिष्ठान से भी श्रेष्ठ है, उसी प्रकार हिताकांक्षी—हितोपदेशी, सच्चे—अच्छे गुरु के कटुवचन भी उन ठग, वैश्या, चाटुकार के मधुर प्रिय वचने से भी अधिक श्रेष्ठ है, सत्य है, ग्राह्य है। गुरु भी यदि शिष्य के हित के लिए कठोर वचन नहीं बोलते हैं तो कुगुरु है। यथा —

दोषान् कांश्चन तान्प्रवर्तकया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
 सार्धं तैः सहसा प्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्।
 तस्मान्मे न गुरुर्गुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,
 ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सदगुरु॥(141)

कोई व्यक्ति गुरु प्रवृत्ति कायम रखने के अभिप्राय से शिष्य में विद्यमान दोषों को छिपाता है और यदि उन दोषों के रहते हुए ही शिष्य का मरण हो जाए तो गुरु क्या करेगा ? इसीलिए ऐसा गुरु मेरा गुरु नहीं है तथा जो मेरे दोषों को देखने में प्रवीण अर्थात् निरन्तर मेरे दोषों को अच्छी तरह देखने वाला और मेरे थोड़े दोषों को भी बढ़ा—चढ़ाकर कहने वाला दुर्जन भी मेरा सच्चा गुरु है।

गुरु के कठोर वचन भी हितकारी है —

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
 रवेरिवारविन्दस्य कठोरश्च गुरुक्तयः॥ (142) (आत्मानुशासन)

जिस प्रकार सूर्य की किरणें भी कमल को प्रफुल्लित करती हैं, उसी प्रकार गुरु की कठोर वाणी भी भवजीव के मन को प्रफुल्लित करती है।

गुणागुणविवेकभिर्विहितमप्यलं दूषणं,
 भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामति प्रीयते।

कृतं किमपि धार्ष्यतः स्तवनमप्यतीर्थोषितैः,
 न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता॥ (144) (आत्मानुशासन)

गुण दोष के विवेक से युक्त सत्पुरुषों द्वारा अपने दोष अधिकता से प्रगट करना भी बुद्धिमान जीवों को भले उपदेश के समान अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करने वाला होता है और धर्मतीर्थ का सेवन न करने वाले (दुष्ट पुरुषों) द्वारा धीरता से किया गया गुणानुवाद भी उन बुद्धिमान्, विवेकी जीवों को सन्तोष उत्पन्न नहीं करता। परन्तु तुझे (शङ्खाकार को) अन्यथा भासित होता है, तेरी इस अज्ञानता से हमें खेद होता है।

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोषनिबन्धनौ।

यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः॥ (145)

अन्य कारणों की अपेक्षा छोड़कर जो जीव गुणों और दोषों के कारण ही ग्रहण और त्याग करते हैं, वे ही ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं। हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धार्दुर्द्युखायसे मृशम्।

विपर्यये तयोरेधि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः॥ (146) आशासन

हे जीव ! तू दुर्बुद्धि होता हुआ हित को छोड़कर अहित में स्थित रहकर अपने को अत्यन्त दुःखी करता है, इसलिए अब इसका उल्टा कर ! अर्थात् सुबुद्धि होता हुआ अहित को छोड़कर हित में स्थित रहते हुए उसी की वृद्धि कर ! इससे तू अपने स्वाभाविक सुख को प्राप्त करेगा।

प्राचीन महान् हितोपदेशी आचार्यों ने भी कभी—कभी शिष्यों को सुधारने के लिए कठोर वचनों का प्रयोग किया है। इसके साथ—साथ ही कोई विषय यदि शिष्य को समझ में नहीं आता है तो अनेक बार (अमित) समझाया है। समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ तक में भी अनेक उदाहरणों के माध्यम से अनेक गाथाओं में एक ही विषय को समझाया गया है। किन्तु सामान्य व्यक्ति अहितकर वचन, विकथा आदि वाचालता से करते हैं तथा आर्तध्यान, रौद्रध्यान से युक्त होकर अप्रिय बोलते हैं, इसलिए उनको इस दुष्प्रवृत्ति से निवृत्त होने के लिए तो हित के साथ—साथ मित एवं प्रिय ही बोलना चाहिए।

उपर्युक्त समस्त कारणों से प्रेरित होकर मैं सर्वप्रथम स्वयं की

कमियों को दूर करके आदर्श बनने के साथ—साथ परोपकार की भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति से लेकर समाज—राष्ट्र—विश्व की कमियों को दूर करके आदर्श बनाने के महान्—उदार—उदात्त उद्देश्य से शिक्षा, विज्ञान, धर्म, मानव, समाज, राष्ट्र, राजनीति, कानून, अन्तर्राष्ट्र (विश्व) की कमियों के बारे में लिखता हूँ कहता हूँ तथा यथायोग्य, यथापरिस्थिति, आवश्यकता के अनुसार परिशोधन के लिए सम्यक् पुरुषार्थ भी करता हूँ जिसके सुपरिणाम भी विभिन्न क्षेत्र में प्राप्त हो रहे हैं। संक्षिप्ततः मैं यह सब “स्व—पर—विश्व सुखाय आत्मकल्याणार्थे” कर रहा हूँ। जैन धर्म की दृष्टि से यह सब मैं उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना के लिए निःशङ्कित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि अङ्ग को हृदय में रख करके कर रहा हूँ।

मेरा स्वभाव “गुणगणकथा दोषवादे च मौनं” होने के कारण मैं देश—विदेश के धर्म, दर्शन विज्ञान, संविधान, राजनीति, कानून, इतिहास, नीति, परम्परा, महापुरुष आदि के सच्चे—अच्छे गुणों को स्वीकार करता हूँ लेखन, प्रवचन आदि में उद्धृत करता हूँ तथा इन सबमें समीक्षात्मक समन्वय भी करता हूँ। यह सब होते हुए भी जो सत्य, समता, समन्वय, एकता, शान्ति, न्याय, प्रगति, पवित्रता, उदारता, सहिष्णुता, अहिंसा, सहज—सरलता, संवेदनशीलता, प्रगतिशीलता, सहअस्तित्व, परोपकार, सदाचार आदि के विपरीत या विनाशक अथवा विकृत कारक शिक्षा से लेकर कानून आदि हैं, उसके परिशोधन परिवर्तन के लिए लेखन आदि कर रहा हूँ।

सुशिक्षा से विकास तो संकीर्ण शिक्षा से विनाश

(1) शिक्षा — मानव जीवन में शिक्षा सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र में पड़ता है। शिक्षा से सर्वाङ्गीण विकास होता है और इससे स्व—पर—विश्वकल्याण के लिए व्यक्ति योग्य बनता है। शिक्षा से मानव जीवन निर्वाह से लेकर जीवन निर्माण/मोक्ष तक के लिए योग्य बनता है। जीवन के प्रारम्भिक $\frac{1}{4}$ अंश तथा प्रचुर जन, धन, साधन, श्रम का भी विनियोग शिक्षा में होता है। ऐसी गरिमामय शिक्षा भी आज केवल संकीर्ण भौतिकवादी, रटन्त, नम्बर आधारित, दबाव—तनाव—आडम्बर युक्त होने के कारण इसका

कुफल बेकारी, फैशनी, व्यसनी, आलसी, नकलची, कर्तव्यहीन, भ्रष्टाचारी, उद्धण्ड, अत्याचारी, आतंकवादी, आत्महत्यारा रूप में मिल रहा है। भारत के सर्वशिक्षा अभियान में केवल यूरोप के द्वारा दिये गये अनुदान के अरबों रुपये का भ्रष्टाचार है जिसकी जांच यूरोप कर रहा है। इन सब कारणों से शिक्षा की कमियों को दूर करने के लिए (1) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (2) शिक्षा संस्कृति तथा नारी गरिमा (3) सर्वोदय शिक्षा तथा सङ्क्लर्ण शिक्षा के स्वरूप एवं परिणाम आदि की रचना, शिक्षा सम्बन्धी 2 वैज्ञानिक संगोष्ठी, स्कूल कॉलेज विश्वविद्यालयों आदि में प्रवचन, पत्र—पत्रिकाओं में लेख प्रकाशन, शिक्षाविदों से लेकर शिक्षामंत्री, शिक्षा निर्देशक, NCERT से विचार—विमर्श एवं पत्राचार आदि कर रहा हूँ। इससे तथा और भी अनेक कारणों से शिक्षा पद्धति एवं पाठ्य पुस्तकों में परिवर्तन हुआ है और हो रहा है। परन्तु यह सब परिवर्तन अपर्याप्त है। शिक्षा को सर्वोदयी बनाने के लिए सामूहिक प्रबल पुरुषार्थ की अनिवार्यता है। संक्षिप्त से कहा जाये तो शिक्षा सर्वोदयी, विश्वकल्याणकारी, आध्यात्मिक—वैज्ञानिक पद्धति से युक्त होनी चाहिए।

अभी भी अपूर्ण है विज्ञान

(2) विज्ञान — वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है। आज विज्ञान की आवश्यकता उपयोगिता हर क्षेत्र में होने से इसका प्रवेश एवं आवलम्बन हर क्षेत्र में हो रहा है। प्रकृति (भौतिक तत्त्व) का क्रमबद्ध—व्यवस्थित अध्ययन शोध—बोध—खोज—निर्माण को विज्ञान कहते हैं। यह विज्ञान सत्यकी खोज में होने पर भी परम सत्य (अमूर्तिक एवं आध्यात्मिक सत्य) पर पहुँचा नहीं है। इसलिए विज्ञान की दिशा—दशा—आशा में सतत परिवर्तन, संशोधन, परिवर्द्धन होते रहते हैं। यह सब विज्ञान की जीवन्तता, सत्यग्राहिता, प्रगतिशीलता, उदारता, महानता, विश्वकल्याणकारिता है। यह सब होते हुए भी अभी तक (दि. 16—4—2010) विज्ञान भौतिक ब्रह्माण्ड की भी उत्पत्ति—स्थिति तथा उसके स्वरूप—विस्तार—विनाश के बारे में नहीं जान पाया है तो अमूर्तिक ब्रह्माण्ड (आत्मा, परमात्मा, आकाश, काल, धर्मद्रव्य, अर्धम द्रव्य) के बारे में क्या जान पाएगा। इतना ही नहीं अभी तक विज्ञान भौतिक तत्त्व के केवल 5% को जाना है, शेष 95% को नहीं जान

पाया है। अर्थात् ब्रह्माण्ड के 5% साधारण पदार्थ को विज्ञान ने जाना है और 95% स्वरूप श्याम पदार्थ एवं श्याम ऊर्जा को नहीं जान पाया है। ऐसी परिस्थिति में विज्ञान को ही परम सार्वभौम, विश्वकल्याणकारी सत्य मानना असत्य है, संकीर्णता है, अन्धश्रद्धा है, विकास-सुख-शान्ति के लिए बाधक है। एतदर्थं विज्ञान को भी अमूर्तिक आध्यात्मिक सत्य के शोध-बोध-खोज-अनुभव-उपलब्धि के लिए अभी से अधिक पुरुषार्थ करना चाहिए। इस उद्देश्य से मैंने (1) विश्व विज्ञान रहस्य तथा जैन तथ्य (भारतीय तथ्य) जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञानधारा 1 से 15 तक) कृतियों की रचना की है। 11 वैज्ञानिक संगोष्ठियों का आयोजन हुआ है, विज्ञान के प्रोफेसर्स आदि को पढ़ा रहा हूँ तथा वे देश-विदेश के विश्वविद्यालयों-संगोष्ठियों आदि में जाकर प्रतिपादन कर रहे हैं। प्रगतिशील-सन्म्र सत्यग्राही वैज्ञानिक लोग इस क्षेत्र में भी प्रवेश करें, ऐसी मेरी भावना है। मेरी भावना है “धर्म विज्ञानमय बने एवं विज्ञान धर्ममय बने”, इससे ही स्व-पर-विश्वकल्याण सम्भव है। इन्द्रिय एवं भौतिक यन्त्रों से अमूर्तिक द्रव्य यथा आत्मा आदि का परिज्ञान सम्भव नहीं है अतः वैज्ञानिकों को मानसिक प्रज्ञा से अमूर्तिक द्रव्यों के बारे में शोध-बोध-खोज एवं उपलब्धि करना चाहिए।

सर्वोदय कारी धर्म हितकर है न कि रुदिवादी धर्म -

(3) धर्म – “धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो”, “यो धरत्युत्तमसुखो सः धर्मः”, “यतोऽभ्युदयनिश्रेयसः सुखः सःधर्मः”, “वत्थु सहावो धर्मो”, “धर्म धारयति प्रजा” आदि महानतम् सूत्रों से ज्ञात होता है कि जिससे इहलोक – परलोक सम्बन्धी सम्पूर्ण भौतिक-शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक सुख प्राप्त होते हैं, जो प्रजा-प्राणी मात्र को धारण करता है या जिसे समस्त जीवों को धारण करने योग्य है तथा जो वस्तु स्वरूप है, उसे धर्म कहते हैं। प्रकारान्तर से कहें तो जो सम्पूर्ण जीवों के लिए सम्पूर्ण सुख-हित-मंगल-आभ्युदय-विकास-शान्ति-सर्वोदय के सार्वभौम, शाश्वतिक, परमकल्याणकारी है, वह है धर्म। विस्तार से कहें तो सत्य, समता, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सादा सहज जीवन उच्चविचार, सह-अस्तित्व, समन्वय, सदाचार, सहिष्णुता, न्याय, उदारता,

गामा, नम्रता, सरलता, पवित्रता, संयम, अनुशासन, परोपकार, निर्लोभता, प्रगाणिकता, महान ध्येय, कर्तव्यनिष्ठा, आत्मविश्वास, सत्यनिष्ठा, आत्मोपलब्धि, आध्यात्मिक शान्ति आदि ही यथार्थ से धर्म है। क्योंकि यह सब जीव के शुद्ध स्वरूप है। इन सबसे अतिरिक्त जितने भी धार्मिक क्रियाकाण्ड, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, परम्परा, वेश-भूषा, तीर्थयात्रा, पर्व-त्यौहार आदि हैं वे सब जब उपरोक्त सत्य, समता से लेकर आध्यात्मिक शान्ति के लिए कारण बनते हैं तब तो वे सब धर्म के साधक हैं, अन्यथा वे सब धर्म के बाधक हैं, अधर्म हैं, पाप हैं, मिथ्या हैं, ढोंग हैं, अन्धश्रद्धा-अन्धानुकरण हैं। अतः वे सब त्यजनीय, अकरणीय हैं। परन्तु प्रायः देश-विदेश के हर धर्म सम्प्रदाय, पन्थ-मत के अनुयायी प्रायः वास्तविक/यथार्थ/सच्चे-अच्छे धर्म को छोड़कर या विकृतकर अथवा ढोंग-दिखावा रूप से केवल धार्मिक क्रियाकाण्ड आदि को येन-केन रूप से या दूसरों को नीचा दिखाने के लिए प्रतिस्पर्द्धा रूप से जोर-शोर से मना करके और भी अधिक अधर्म करते हैं, प्रदूषण फैलाते हैं, अव्यवस्था से लेकर “जीयो और जीने दो” के विपरीत “मरो और मारो” तक के जघन्य-घृणित कार्य करते रहते हैं। इसीलिए तो सर्वोत्तम, पवित्रतम, सर्वसुखदायी धर्म के नाम पर या धर्म के आङ् में सबसे अधिक अन्धश्रद्धा, अन्धविश्वास, अज्ञानता, जड़ता, अनुदारता, संकीर्णता, क्रूरता, भेद-भाव, कलह, वैमनस्य, परहत्या से लेकर आत्महत्या, पशु बलि से लेकर स्वजन-स्व-बलि आक्रमण, लूट, बलात्कार, युद्ध से लेकर महायुद्ध, विश्वयुद्ध तक होते हैं।

प्रायः प्रत्येक धर्म की मान्यता है कि भगवान् का स्वरूप, सत्यं-शिवं-सुन्दरम्, सच्चिदानन्द, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, ज्ञानी, दयालु, निरपेक्ष, निर्विकार, साम्यभावी, निष्कलंक, परम ऐश्वर्यशाली है। भगवान् के ऐसे स्वरूप के नाम पर उनकी पूजा-आराधना, के लिए तथा कुछ धर्मावलम्बी उन्हें प्रसन्न करने के लिए हिंसा, अन्याय, अत्याचार, दुराचार, पापाचार, जीवबलि, आक्रमण, युद्ध, आतंकवाद, स्वजन हत्या से लेकर आत्महत्या, बलात्कार, व्यभिचार, मद्यपान, नशीली वस्तु सेवन, मांस भक्षण आदि करते हैं। इन सबको दूर करने के लिए मैंने (1) धार्मिक कुरीतियों का परिशोधन (2) ये कैसे धर्मात्मा

— निर्वासनी — राष्ट्रसेवी (3) धर्म — दर्शन एवं विज्ञान (4) वर्तमान की आवश्यकता धार्मिक उदारता न कि कटूरता (5) अग्नि—परीक्षा (6) नग्न सत्य का दिग्दर्शन (7) अहिंसामृतम् आदि शताधिक साहित्यों की रचना की है, 32 धर्म—दर्शन—विज्ञान प्रशिक्षण शिविर, 11 वैज्ञानिक संगोष्ठियाँ, हजारों प्रशिक्षण कक्षा, सैकड़ों प्रवचन, तत्त्व—चर्चा आदि के आयोजन हुए हैं, मेरे विद्वान् शिष्यों के द्वारा देश—विदेशों में — विश्व धर्म सभा — विश्वविद्यालयों में प्रचार—प्रसार हो रहा है। जिसका सुफल अनेक देश—विदेश के जैन—अजैन महानुभावों को प्राप्त हो रहा है।

महान् गुणशाली मानव ही महान् है, न कि प्रत्येक मानव

(4) मानव — आधुनिक विज्ञान द्वारा ज्ञात एवं प्रमाणित इतिहास—पुराण—धर्म में वर्णित, वर्तमान पृथ्वी में उपलब्ध सम्पूर्ण जीवों में मानव सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। क्योंकि मानव ही स्व—निहित सम्पूर्ण शक्तियों की अभिव्यक्ति के द्वारा मानव से महामानव तथा अतिमानव / आध्यात्मिक मानव / भगवान् बन सकता है। ऐसी योग्यता एवं उपलब्धियाँ अन्य प्राणी जगत् में नहीं पायी जाती हैं। वर्तमान में पृथ्वी में ज्ञात/उपलब्ध प्रायः समस्त सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान—विज्ञान, गणित, कला, वाणिज्य, शिल्प, वास्तु, भाषा, संगीत उपकरण, यंत्र, ग्रन्थ, धर्म, दर्शन, न्याय, राजनीति, आध्यात्म आदि का शोध—बोध—खोज—आविष्कार—निर्माण—संरक्षण—संवर्धन—प्रचार—प्रसार प्रायोगिककरण इत्यादि सब कुछ मानव द्वारा हुआ है और हो रहा है। इन सब उपलब्ध साक्ष्य/प्रमाण से भी प्रमाणित होता है कि वास्तव में मानव ही महान् है। जैन धर्म के ग्रन्थों से ज्ञाता होता है कि मानव जब आध्यात्मिक विकास करता है हुआ उच्च से उच्चतर एवं उच्चतम स्तर को प्राप्त करता है तो स्वर्ग के ऋद्धि—वैभव—शक्ति सम्पन्न देव भी आकर उसकी सहायता—सेवा, पूजा—आराधना—प्रार्थना करते हैं, उन्हें श्रेष्ठ—ज्येष्ठ, पूज्य—गुरु—भगवान् तक मानते हैं, उनसे दिव्य उपदेश भी सुनते हैं। प्रायः ऐसा ही वैदिक, बौद्ध ग्रन्थों में भी पाया जाता है। इसलिए तो धार्मिक ग्रन्थों में वर्णन पाया जाता है, स्वर्ग के देव भी मानव जन्म प्राप्त करने के लिए लालायित होते हैं। जैन धर्मानुसार तो

मानव ही चारों गति में मरने के बाद स्व — कर्मानुसार जन्म ले सकता है तथा समस्त कर्मों को नाश करके पञ्चमगति स्वरूप मोक्ष (मुक्ति, निर्वाण) को भी प्राप्त कर सकता है। यह सम्पूर्ण कार्य अन्य किसी भी गति (तिर्यङ्ग, नारकी) के जीवों के लिए यहाँ तक कि स्वर्ग के सामान्य देव से लेकर इन्द्र तक के लिए भी सम्भव नहीं है। इसलिए मानव विश्व के सर्वश्रेष्ठ—सर्वज्येष्ठ जीव हैं तथा विश्वगुरु — विश्वपूजनीय — विश्वआदर्श हैं।

मानव की उपर्युक्त सर्वश्रेष्ठ विशेषताओं—श्रेष्ठताओं—ज्येष्ठताओं—पूज्यताओं के अतिरिक्त उसका सर्वनिकृष्ट/सर्वजघन्य/सर्वनिन्दनीय व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व भी है जो कि अन्य किसी भी प्राणी में नहीं है, यहाँ तक कि मांसभक्षी — शिकारी पशु—पक्षी से लेकर नरक के नारकी तक में भी। अधिकांश शाकाहारी पशु—पक्षी से लेकर मांसाहारी पशु—पक्षी तक भी इतना अनावश्यक हिंसा, चोरी, शोषण, आक्रमण, अन्याय, अत्याचार, पापाचार, भ्रष्टाचार, अतिसंग्रह, मिलावट, युद्ध, हत्या, आत्महत्या, दम्भाचार, प्रदूषण, प्राकृतिक प्रधंस आदि नहीं करते हैं जितना कि नर पिशाच रूपी मानव करता है। उपर्युक्त अपशुकृत (पशु से भी जो नहीं होते ऐसे कार्य) कुकृत्य को ही मानव नहीं करता है अपितु इससे परे भी अनेक प्राणी—प्रजातियों के दोहन—शोषण से लेकर सामूहिक महासंहार से लेकर स्व—प्रजाति (मानव जाति) का भी दोहन शोषण से लेकर सामूहिक महासंहार तक करता है। इस दृष्टि से परजाति के साथ—साथ स्वजाति भक्षक/नाशक/संहारक, स्वजाति—भक्षक किंग कोबरा भी नहीं है, जंगल के राजा—शिकारी—मांसाहारी सिंह/बबर शेर भी नहीं है। क्योंकि प्रायः शिकारी—मांसाहारी पशु—पक्षी भी अनावश्यक रूप से मनुष्य जितना पापाचारी से लेकर संहारक / विधंसक नहीं है। वे प्रायः आवश्यकतानुसार ही/भोजन के लिए/जीवन निर्वाह के लिए यत्किञ्चित पापाचारादि करते हैं, किन्तु मानव तो आवश्यकता से भी अधिक अनावश्यक पापाचारादि करके स्व—पर—विश्व को क्षति पहुँचाता है। मानव के कारण ही हजारों जीव प्रजातियों का विलोप हो गया है और हो रहा है, हर प्रकार का प्रदूषण मानव के कारण फैला है और फैल रहा है। इन सब कारणों से वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी है कि आगे का प्रलय मानवकृत होना है/होगा।

पृथ्वी पर मानव की अनुपस्थिति (अभाव, विलुप्त) से भी मानवेतर प्राणी जगत् केवल जीवित नहीं रहेंगे अपितु और भी अधिक फूलेंगे—फलेंगे—सुख शान्ति से जियेंगे, परन्तु मानवेतर (वनस्पति से लेकर पशु—पक्षी तक) जीवों के अभाव से मानव का विकास होना तो दूर, पृथ्वी पर उसका जीवित रहना भी असम्भव है। क्योंकि प्राणवायु, भोजन, दूध, अनाज, लकड़ी, वस्त्र आदि सब जीवनोपयोगी सामग्री तो मानव मानवेतर प्राणियों से प्राप्त करता है। इतना ही नहीं अधिकांश वैज्ञानिक शोध—बोध—खोज, औषधि, संगीत के स्वर, ध्यान के आसन, भाषा की ध्वनि/शब्द, चित्र, नृत्य, कला, मूर्ति, रंग, गृहोपकरण, शकुन आदि प्रत्यक्ष—परोक्ष या परम्परा रूप से मानव उनसे लाभान्वित है/उपकृत है। भले मानव वृक्षारोपण, कृषि, पशुपालन आदि करता है तथापि वह प्रायः स्वस्वार्थ के लिए यह सब करता है। प्राकृतिक रूप से वृक्षादि तो निस्वार्थ रूप से परोपकार करते या उनसे परोपकार होता है। यथा—

तरुवर फल नहीं खात है, नदी न सञ्चै नीर।
रहिमन पर काज हित, सज्जन धरे शरीर ॥

करोड़ों—अरबों वर्षों से मानवेतर प्राणी मानव के सेवा, सुरक्षा निरन्तर करते आ रहे हैं। अतः अभी समय आ गया है कि मानव उनके चिरऋण को चुकाने के लिए तथा उनसे शिक्षा लेकर परोपकार के लिए जागृत होकर, स्वेच्छा से प्रयत्नशील रहे। केवल मानव तुच्छ, विकृत बुद्धि से स्वयं को श्रेष्ठ—ज्येष्ठ बताने, जताने तथा लिखने से कोई यथार्थ से महान् नहीं हो जाता है। मानव स्वयं को वैज्ञानिक, प्रगतिशील बताने पर भी क्या वह वनस्पति से लेकर पशु—पक्षी तथा प्रकृति के अभाव से जी सकता है? विकास कर सकता है? कदापि नहीं! इसलिए मानव को अहंवृति छोड़कर पूर्व वर्णित पापाचार आदि को त्याग करना चाहिए। इस दृष्टि से अभी तक मैंने (1) मानव इतिहास एवं मानव विज्ञान (2) निकृष्टतम स्वार्थी तथा क्रूरतम प्राणी मानव (3) मानवीय निकृष्ट संघर्ष का इतिहास (4) मानव धर्म स्वरूप एवं परिमाण (5) वैश्वीकरण, वैश्विक धर्म एवं विश्वशान्ति आदि कृतियों की रचना की है। इसके साथ—साथ देश—विदेश में स्व—शिष्यों के द्वारा अहिंसा, सत्य, समता, विश्वशान्ति, विश्वमैत्री आदि के लिए प्रचार—प्रसार करने में संलग्न हूँ।

सज्जनों के समूह ही समाज है, न कि भीड़ -

(5) समाज — उन व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं जो परस्पर प्रेम—सौहार्द से एक दूसरों के उपकार करते हुए सह—अस्तित्व में निवास करते हैं। “परस्परोपग्रहो जीवानाम्” अर्थात् परस्पर उपकार जीवों का धर्म है/स्वभाव है के अनुसार समाज का निर्माण हुआ है/होता है। इस दृष्टि से मानव एक सामाजिक प्राणी है तथा समाज से उपकृत है। इस दृष्टि से व्यक्ति के विकास से समाज का विकास एवं समाज के विकास से मानव का विकास निर्भर है। जैन धर्मानुसार तथा आधुनिक विज्ञान इतिहास के अनुसार भी जब मानव कृषि करने लगा और समाज का निर्माण हुआ तब से पारिवारिक सरचना/सम्बन्ध से लेकर जनपद—राष्ट्र अस्तित्व में आया तथा शिक्षा, संस्कार, सम्भ्यता, शोध, बोध, खोज, आविष्कार, निर्माण, साहित्य लेखन, गणित, विज्ञान, कला, संस्कृति, आध्यात्मिक आदि का शुभारम्भ, सम्वर्धन, प्रचार—प्रसार हुआ। इससे समाज की गरिमा — महिमा, उपयोगिता — उपादेयता — आवश्यकता आदि का सहजबोध हो जाता है। “संगठन में शक्ति” के अनुसार परस्पर सौहार्द, सहयोग के कारण समाज में एक प्रबल शक्ति (शिक्षा से लेकर आध्यात्मिकता) का उद्भव—सम्वर्धन—सञ्चार होता है जिससे समाज का सर्वोदय होता है। समाज में जिस व्यक्ति के पास जो उपलब्धियाँ होती है उन उपलब्धियों को वह दूसरों से प्रदान करता है और उसके पास जिसकी कमी—आवश्यकता होती है उसे वह दूसरों से प्राप्त करता है। जैसा कि जो ज्ञानी होता है, वह दूसरों को ज्ञानदान करता है; जो शक्ति सम्पन्न होता है वह दुर्बलों की रक्षा करता है; जो धन सम्पन्न होता है, वह दूसरों को धन से सहयोग करता है; जो उपर्युक्त गुणों से रहित होता है, वह स्व—शरीर से दूसरों को सहयोग करता है; ज्ञानदाता गुरुस्थानीय (ब्राह्मण, उपाध्याय, शिक्षक) होता है; रक्षा करने वाला रक्षक (क्षत्रिय—राजा—नेता) होता है; धन सहयोगी वैश्य (व्यापारी, वणिक, सेठ, साहूकार, कृषक, पशुपालक) होता है तथा शरीर से सहयोग करने वाला समाज सेवक (शूद्र, कर्मचारी, नौकर—सेवक) होता है। इसी प्रकार हुनर/कला—कौशल से युक्त शक्ति (कुम्हार, कमार—लोहार, सोनार—बढ़ाई, शिल्पकार, चित्रकार,

कलाकार, संगीतज्ञ, विभिन्न उपकरण निर्माता—इंजीनियर आदि।) अपनी—अपनी योग्यता/उपलब्धियों से दूसरों को भी लाभान्वित करता है। मुद्रा के आविष्कार के पहिले उपर्युक्त आदान—प्रदान, सहयोग—सहकार से समाज की लौकिक से लेकर धार्मिक व्यवस्था होती थी। ऐसे ताना—बाना रूपी व्यवस्था से समाज रूपी वस्त्र निर्माण होता है। अतः समाज के बिना व्यक्ति/मानव का विकास समुचित रूप से असम्भव है।

समाज के उपर्युक्त गुणों के साथ पहले भी कुछ अवगुण रहे हैं तथा वर्तमान की भौतिकवादी मानसिकता के कारण अभी समाज में अवगुण अधिक से अधिक बढ़ते जा रहे हैं। वर्तमान में जनसंख्या विस्फोट, भौतिक—भोगवादी दृष्टिकोण, अन्ध—आधुनिकता, प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्या, तृष्णा, आडम्बर, स्वार्थपरता, अस्त—व्यस्त जीवन चर्या आदि के कारण 'समाज' धीरे—धीरे 'भीड़' में परिवर्तित होता जा रहा है, जिसके कारण "समाज मनोविज्ञान" के स्थान पर "भीड़ मनोविज्ञान" काम कर रहा है। जिस प्रकार कि मेला में लाखों व्यक्तियों की भीड़ होती है तथापि वहाँ परस्पर परिचय, सहयोग, समन्वय, एकता, उपकार आदि नहीं होते हैं, ऐसा ही अभी समाज में भी हो रहा है और वह भी विशेषतः साक्षर—सम्भ्य—आधुनिक सत्ता—सम्पत्ति सम्पन्न नगर—महानगर में जिस प्रकार लाखों की भीड़ में व्यक्ति खो जाता है, उसी प्रकार अभी भीड़ रूपी समाज में व्यक्ति खो गया है। जिस प्रकार कि घरोई मक्खी, गन्दगी/घाव आदि में बैठकर उसे चूसती है, अप्णे देती है, रोग फैलाती है वैसा ही समाज के लोग दूसरों की आपत्ति/विपत्ति/समस्या/दुर्बलता/कमियों का लाभ उठाकर उसका शोषण/पतन/अपमान/निन्दा/वाद—विवाद/विघटन आदि करते हैं। मरण संस्कार, मृत्यु भोज, दहेज प्रथा, बाल विवाह, विवाह आदि में अनावश्यक आडम्बर—खर्च आदि सामाजिक विकृतियों के परिणाम है। असहाय, गरीब, रोगी, वृद्ध, विकलांग, वृद्ध माता—पिता—परिवारजनों की तो समाजजन (यथार्थ से भीड़) सेवा—सहायता तो नहीं करेंगे परन्तु दूसरों की दुर्बलता—कमियों का अनुचित लाभ उठायेंगे तथा गुरुजन—गुणीजन—उन्नति करने वालों से ईर्ष्या, द्वेष, वैरत्व करके उन्हें क्षति पहुँचायेंगे। स्वार्थ सिद्धि के लिए पैर पड़ेंगे—पैर दबायेंगे अन्यथा गला दबायेंगे। बिना निमंत्रण से निन्दा, अपमान, कलह, क्षति पहुँचाने

के लिए भीड़ लगायेंगे किन्तु धार्मिक कार्य, राष्ट्र सेवा, परोपकार के लिए निमंत्रण/आमंत्रण/आग्रह/आह्वान करने पर भी नहीं आयेंगे। कभी—कभी तो समाज व्यक्ति को "न मरने देता है न ही जीने देता है", "चोर को चोरी करने के लिए कहता है तो कोतवाल को जागते रहने के लिए — चोर को पकड़ने के लिए कहता है" की नीति को चरितार्थ करता है। जो महान् व्यक्ति इन सबसे विपरीत सच्चा—अच्छा मार्ग में भी चलता है, समाज उसे समाज द्वोही मानकर उनकी निन्दा, अवमानना, प्रताड़ना से लेकर हत्या तक करता है। ऐसा करने के अनन्तर भी उनकी मृत्यु के बाद उनकी पूजा—आराधना भी करता है। इसलिए तो निम्नोक्त उक्तियों का जन्म हुआ। यथा —
लोकानुगतिकः लोकः न लोकः परमार्थिकः।
प्रत्यक्षे मार्यते गावः गोमयेष्वपि पूज्यते ॥
"जिन्दा बाप से लड्डुमलड्डा, मरे हुए को पहुँचावे गंगा।"

इन सब कारणों से तीर्थकर, बुद्ध, श्रमण, साधु—सन्त, ऋषि—मुनि आदि एकान्त जंगल में रहकर आध्यात्मिक साधना करते थे तथापि उन्हें भी समाज—कण्टकों ने नहीं छोड़ा; उनके ऊपर भी उपसर्ग—परीषह किया। तीर्थकर पार्श्वनाथ, महावीर, ईसा—मसीह, सुकरात, मीरा बाई आदि उनके उदाहरण इसके लिए साक्षी है, वस्ततुः जो सत्य—समता के मार्ग पर चलते हुए तात्कालीन सामाजिक कुरीतियों/संकीर्णताओं का उल्लंघन करते हैं, वे ही स्व—पर—समाज—राष्ट्र—विश्व कल्याण के मार्गों को प्रशस्त करते हैं। ऐसे ही महापुरुषों से समाज यथार्थ से आदर्श समाज है अन्यथा तो लोगों की भीड़ है। जैसा कि चोर, डाकू लूटेरे आदि के झूण्ड समाज नहीं है उसी प्रकार प्रेम—सौहार्द—सहयोग के बिना व्यक्तियों का समूह समाज नहीं है। जैसा कि अव्यवस्थित—असंयोजित एकत्रित ईट—पथरों को ढेर गृह नहीं है, धागों को ढेर वस्त्र नहीं है। वैसा ही मानव का समूह समाज नहीं है। एकत्रित मानव समूह भी धर्म—पन्थ—मत—ग्रन्थ—सन्त—भाषा—क्षेत्र—राजनीति—स्वार्थ—अहंकार आदि के कारण यदि समन्वय संगठन सहयोग से रहित है तो वह भी आदिम मानव के जैसे असामाजिक है। ऐसी परिस्थिति में—“मानव एक सामाजिक प्राणी” न रहकर “मानव समाज आदिम मानवों की भीड़” ही रहेगा।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों को लक्ष्य में रखकर मैंने (1) वैश्वीकरण, वैश्विक धर्म एवं विश्वशान्ति (2) व्यक्ति एवं समाज निर्माण के आद्य कर्तव्य (3) ये कैसे धर्मात्मा, निर्व्वसनी, राष्ट्रसेवी (4) वर्तमान की आवश्यकता : धार्मिक उदारता न कि कहुरता (5) जैन एकता एवं विश्वशान्ति (6) जैन धर्मावलम्बियों की दिशा—दशा—आशा (7) जैन धर्मावलम्बी : संख्या एवं उपलब्धि (8) संस्कृति की विकृति आदि की रचना के साथ—साथ समाज से लेकर विश्व एकता—शान्ति के लिए भावना एवं प्रयास सतत प्रवाहमान है। एतदर्थ 2005 से अनेक पत्र—पत्रिकाओं का प्रकाशन, सम्मेलन, संगोष्ठी, चर्चा, परिचर्चा से लेकर विश्व धर्म सभा मेलबोर्न (आस्ट्रेलिया) में डॉ. कछारा का प्रतिनिधित्व, Peace Next Individual code for global peace. में सदस्यता तथा इसके वेबसाइट में सन्देश, आशीर्वाद, लेख आदि का प्रसारण हो रहे हैं।

भौगोलिक भूखण्ड ही राष्ट्र नहीं है अपितु वहाँ की प्रजा एवं संस्कृति ही राष्ट्र है -

(6) राष्ट्र — एक भौगोलिक भूखण्ड ही राष्ट्र नहीं है — जैसा कि दक्षिण ध्रुव, उत्तर ध्रुव अपितु, एक भूखण्ड में स्थित मानव, संस्कृति, सम्यता, परम्परा, भाषा, प्रकृति, पशु—पक्षी आदि का सम्यक् समन्वय रूप सह अस्तित्व है। राष्ट्र का अस्तित्व पूर्व वर्णित समाज की स्थापना के बाद में आया। मानव समाज की कल्पना (अस्तित्व) भेद—प्रभेद रूप से कुछ व्यक्तियों के समूह से लेकर पृथ्वी (विश्व, अद्वाई द्वीप) के समस्त मानव में व्याप्त है, तो राष्ट्र एक निश्चित भूखण्ड में सीमाबद्ध है। प्राकृतिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थिति तथा आवश्यकता—व्यवस्था की दृष्टि से राष्ट्र अस्तित्व में आता है। स्व—स्वराष्ट्र में जन्म लेने वाले रहने वाले मानव स्व—स्वराष्ट्र की प्रकृति, संस्कृति आदि की सुरक्षा—समृद्धि करते हुए सहअस्तित्व में रहकर स्व—पर—विश्वकल्प्याण के लिए प्रयत्नशील होते हैं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आधुनिक भूगोल के समस्त राष्ट्रों में से भारत सबसे प्राचीनतम सम्भ्य—सांस्कृतिक—आध्यात्मिक वैभव सम्पन्न राष्ट्र रहा है। भारत विश्वगुरु कहलाता था क्योंकि यहाँ के सपूत्रों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थ से ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी),

गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास रूपी मानव की चारों अवस्थाओं में सन्तुलित रूप से सर्वोदय के द्वारा अणु से लेकर ब्रह्माण्ड, आत्मा से लेकर परमात्मा, रूपी से लेकर अरूपी, इहलोक से लेकर परलोक—मोक्ष तक का शोध—बोध—उपलब्धि किया था। यहाँ पर श्रेष्ठ मानव होने से 'आर्यावर्त' कहलाया, भारत = भा + रत = (ज्ञान + रत) ज्ञानरत होने से भारत कहलाया या विश्व भरण—पोषण कर जोई ताकर भारत अस होई अर्थात् जो विश्व का भरण—पोषण करता है उसे भारत कहते हैं। इसीलिए तो स्वर्ग के देवता भी भारत में जन्म लेने के लिए कामना करते थे। वर्तमान में भी पृथ्वी पर फैले प्रसिद्ध धर्मों में से जैन, बौद्ध, ऐदिक, सिक्ख, सूफी आदि धर्म—पन्थों का जन्म/उद्भव/प्रचार भारत से हुआ है। ऐसा ही वर्णमाला (ब्राह्मी), गणित (दशमलव पद्धति, 0 (शून्य), 1 से लेकर 9 आदि) का उद्गम/प्रचार भारत से हुआ है।

उपर्युक्त उपलब्धियों के साथ—साथ भारत की कुछ कमियों (अन्तर्कलह, विघटनादि) के कारण इसा पूर्व से ही विदेशी आक्रान्ताओं ने भारत के ऊपर आक्रमण किया, विघ्वंस किया, लूटा, आंशिक या पूर्ण गुलाम बनाया। अभी स्वतन्त्र हुए 63 वर्षों के बाद भी थोड़ा—बहुत भौतिक, साक्षरता आदि के विकास के अतिरिक्त सांस्कृतिक—भाषागत—शैक्षणिक—नैतिक—चारित्रिक—मानसिक — आध्यात्मिक विकास नहीं कर पाने का मूल कारण सांस्कृतिक से लेकर आध्यात्मिक परतन्त्रता है। उपर्युक्त समस्त विषयों का सविस्तार वर्णन मैंने मेरी (1) प्रथम शोध—बोध आविष्कार एवं प्रवक्ता (2) प्राचीन भारत की 72 कलाएँ (3) भारत को गारत एवं महान् भारत बनाने के सूत्र (4) भारत के सर्वोदय के उपाय (5) भारत की अन्तरंग खोज (6) भारतीय आर्य कौन कहाँ से, कब से (7) भारतीय संस्कृति में विश्वशान्ति और पर्यावरण सुरक्षा के सूत्र (स्मारिका) (8) भारत को विश्वगुरु बनाने के लिए समग्र क्रान्ति चाहिए आदि कृतियों में किया है। इसके साथ—साथ "भारतीय तथ्य जो आधुनिक विज्ञान से परे (ज्ञानधारा) में प्राचीन भारतीय ज्ञान—विज्ञान—गणित—संस्कृति का वर्णन करके विश्व के समक्ष रख रहा हूँ/पढ़ा रहा हूँ/प्रचार—प्रसार कर रहा हूँ और मेरे शिष्य—भक्त भी इस कार्य में संलग्न हैं।

पृथ्वी के अन्यान्य राष्ट्र भी विश्व बन्धुत्व की भावना से

“जियो और जीने दो” के प्राकृतिक वैशिक न्यायानुसार स्वयं विकास करना चाहिए और दूसरों के लिए भी सहयोग करना चाहिए। एतदर्थ संयुक्त राष्ट्र संघ, विश्व धर्म सभा आदि का निर्माण हुआ है और यत्किञ्चित् विश्वशान्ति, विश्वमैत्री, विश्व सुरक्षा—समृद्धि के लिए भी कार्य हुआ है, हो रहा है और होने की मंगल कामना करते हैं। यह सब होते हुए भी और प्राचीन काल से ही देश—विदेशों के महापुरुषों ने स्व—पर—राष्ट्र विश्व कल्याण के लिए प्रयत्नशील होते हुए भी अनेक स्वार्थी—क्रूर—दम्पी—ईर्ष्यालु व्यक्ति/राजा/नेता/राष्ट्र तक सत्ता—सम्पत्ति—शक्ति के बल पर दूसरे व्यक्तियों से लेकर राष्ट्रों को रोंदा, गुलाम बनाया, हत्यायें की। रामायण—महाभारत—स्पार्टा युद्ध से लेकर प्रथम—द्वितीय विश्वयुद्ध आदि अनेक युद्ध, उपनिवेशवाद, सीमाविवाद, आतंकवाद इत्यादि इसके उदाहरण हैं। इन सब के समाधान के उपायों का वर्णन मैंने मेरी (1) विश्व शान्ति के अमोघ उपाय (2) वैश्वीकरण—वैशिक धर्म एवं विश्वशान्ति (3) उठो! जागो! प्राप्त करो! (4) विश्व धर्म के 10 लक्षण (5) वैज्ञानिक—आध्यात्मिक धर्मतीर्थ प्रवर्तन आदि में किया है।

राज्य की समृद्धि की नीति ही राजनीति है, न कि प्रजा की शोषण की नीति-

(7) राजनीति — राज्य/राजा/राष्ट्र/शासन की राज अर्थात् श्रेष्ठ नीति/संविधान/व्यवस्था को राजनीति कहते हैं, जिससे राज्य/प्रजा की सुरक्षा—समृद्धि—शान्ति हो। “धर्मार्थकाम मूलाय राज्याय नमः” सूत्र के माध्यम से महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य ने राजनीति के संक्षिप्त परन्तु सारगर्भित परिभाषा दी कि राज्य/राजनीति धर्म—अर्थ—काम मूलक हो। अर्थात् धर्म/न्याय से युक्त अर्थ (असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा) तथा काम (गृहस्थाश्रमी के कर्म अर्थात् भोग—उपभोग) हो तथा इसके रक्षक राजनीति हो। इससे परे मोक्ष पुरुषार्थ है। मोक्षार्थी राजनीति को त्यागकर/सन्यासी बनकर आध्यात्मिक साधना करते थे भले गृहस्थावस्था में राजकुमार से लेकर चक्रवर्ती ही क्यों न हो। अतः प्रजा से लेकर चक्रवर्ती तक सन्यासी को गौरव देते थे तथा उनके उपदेश की सर्वोपरि मान्यथा थी। पूर्व में वर्णित सामाजिक व्यवस्था के पहले भी राजनीति नहीं थी। विदेश

की राजनीति मुख्यतः सामाजिक, आर्थिक, व्यवहारिक पहले भी थी और अभी है किन्तु भारत की राजनीति इससे भी आगे धार्मिक, नैतिक थी। यह सामान्यतः राजनीति का संक्षिप्त स्वरूप है।

प्राचीनकाल में मुख्यतः राजसत्तात्मक राजनीति थी तथापि देश—विदेशों में लोकतन्त्रात्मक राजनीति कुछ राज में भी रही है। इसके साथ—साथ प्राचीनकाल से देश—विदेशों में भी हर प्रकार के शासन में तानाशाही शासक (राजा, नेता) रहे हैं। हर काल में हर देश में, हर धर्म—सम्प्रदाय के तानाशाही स्व—पर—राष्ट्र विधंसक ही होते हैं। तानाशाही स्वयं को ही राज्य, स्वयं की नीति को ही राजनीति, स्वयं के स्वार्थ को ही संविधान, स्वयं के निर्णय को कानून, स्वयं के सुख के ही सुख—सुविधा—वैभव—भोग—उपभोग—मान—सम्मान—प्रसिद्धि आदि को राज्य का सर्वस्व/स्वरूप मानता है भले उसके लिए रावपरिवार से लेकर राज्य की प्रजा या अन्यान्य राज्यों का शोषण, गुलाम, विधंस तक ही क्यों न करना पड़े। इसके लिए जरासन्ध, कास, चैंगेज खान, हिटलर, सद्घाम हुसैन आदि कुछ प्रसिद्ध उदाहरण हैं। हर काल में हर देश में, हर धर्म—सम्प्रदाय, हर प्रकार के शासन (राजतन्त्र, लोकतन्त्र आदि) में कुछ योग्य, दयालु, परोपकारी, न्यायप्रिय, समर्थ राजा/नेता को छोड़कर अधिकांश राजा/नेता न्यूनाधिक रूप से तानाशाही के समान ही होते हैं। जिस राजनीति—राजतन्त्र की रथापना राज्य की सुरक्षा—व्यवस्था, समृद्धि के लिए हुई वे ही कुछ अपवाद को छोड़कर वे ही स्व—राज्य से लेकर पर राज्य की असुरक्षा—अव्यवस्था—विनाश के लिए कारण बने हैं। सुरा—सुन्दरी—शिकार—समर यह मुख्यतः राजतन्त्र (राजा, नेतादि) के प्रमुख अलिखित प्रायोगिक चतुर्विध/चार—आयाम/चार सूत्रीय कार्यक्रम थे और अभी भी है। इसलिए तो राजनीति प्रायोगिक रूप से वैश्यानीति तथा राजा—नेता रक्षक के नाम पर भक्षक है। इसके लिए प्रचुर धन—जन—साधन की आवश्यकता होती है। अतः उसकी आपूर्ति के लिए वे स्व—राज्य से लेकर दूसरों के राज्यों का भी घोहन—शोषण—विनाश करते हैं। इसे मिलाने के बाद उनके पञ्च सूत्रीय कार्यक्रम/पञ्चनीति (सुरा—सुन्दरी—शिकार—समर—शोषण = पञ्च सकार) पञ्च संविधान/पञ्च कानून होते हैं। अन्य सब

नीति—नियम—कार्यक्रम—संविधान—कानून आदि गरीब, सज्जन—निरीह—भोले—भाले प्रजा के लिए हैं। इसलिए तो पूर्वचार्यों ने कहा है “जो राजेश्वरी सो नरकेश्वरी” अर्थात् जो राज्य करते हुए मरेगा वह नरक में जायगा। क्योंकि “ब्रह्मरम्भपरिग्रहत्वं नारकस्याऽयुषाः” अर्थात् जो बहुत आरम्भ (व्यापार से लेकर युद्ध) तथा बहुत परिग्रह (राग—द्वेष—मोह—माया—मद—मत्सर—ईर्ष्यादि) अन्तरंग परिग्रह तथा सत्ता—सम्पत्ति—नौकर—नौकरानी—रानी—महारानी—सेना—हाथी—घोड़ा—अस्त्र—यान—वाहन—सोना—चांदी—धातु—रल—जमीन—गाय—भैंस आदि बहिरंग परिग्रह) धारी होते हैं, वे नरक में जाते हैं। स्वल्प परिग्रह आरम्भ करने वाले छोटे नारकी हैं तो मध्यम आरम्भ—परिग्रही मध्यम नारकी हैं तथा बहु आरम्भ—परिग्रही बड़ा नारकी है। इसलिए ऐसे राजा—नेता तद्भव में दुःखी संकलेशी रहते हैं तथा दूसरों को दुःख पहुँचाते हैं और मरकर के नरक में जाकर स्व—स्वपाप के अनुसार 10,000 वर्षों से लेकर 33 सागर वर्षों (असंख्यात वर्षों) तक विविध प्रकार के असहनीय दुःख सहने के लिए विवश रहते हैं। आधुनिक अनुसन्धान से भी सिद्ध हो गया है कि अधिक आरम्भ—परिग्रह धारी से ही हर प्रकार के प्रदूषण फैलते हैं, जीवों को कष्ट देते हैं, जीवों का विनाश, विलोप करते हैं तथा वह व्यक्ति भी दुःखी रहता है। इसलिए तो प्राचीन भारत के जैन—हिन्दु—बौद्ध धर्मावलंबी राजा—महाराजा—सेनापति—मंत्री—सेठ आदि सर्व सन्यास व्रत लेकर स्व—पर—विश्वकल्याण के लिए मोक्ष—पुरुषार्थ की साधना करते थे। यह परम्परा ऋषभदेव, भरत से प्रारम्भ होकर भ. महावीर, महात्मा बुद्ध, चन्द्रगुप्त मौर्य तक अविच्छिन्न रही। सामुद्रिक शास्त्र (शरीर भाषा शास्त्र) के अनुसार श्रेष्ठ साधु के शारीरिक लक्षण—चिन्ह चक्रवर्ती के समान होते हैं। राज—वैभव से युक्त चक्रवर्ती से भी साधु श्रेष्ठ इसीलिए है कि साधु स्व—पर—विश्व कल्याण की भावना से युक्त होते हैं; किसी भी प्रकार के आरम्भ—परिग्रह से रहित होने से चक्रवर्ती के समान इहलोक—परलोक में दुःखी नहीं होते हैं तथा दूसरों को क्षति नहीं पहुँचाते हैं; “जियो और जीने दो” के अनुसार आचरण करते हैं; “उदार पुरुषाणां वसुधैव कुटुम्बकम्” की भावना से विश्व को स्व. कुटुम्ब मानने से विश्व के बेताज बादशाह होते हैं। ऐसी यथायोग्य साधुत्व भावना से युक्त राजनीति तथा

राजतन्त्र के सदस्य यथार्थ से राज्य की सुरक्षा—व्यवस्था—समृद्धि कर सकता है जैसा कि देवानांप्रिय प्रियदर्शी धर्मराज अशोक ने किया, न कि दिग्विजयी चण्डाल अशोक ने।

उपर्युक्त समस्त दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर मैंने (1) युग निर्माता, भगवान् ऋषभदेव (2) ऋषभपुत्र भरत से भारत (3) अयोध्या का पौराणिक—ऐतिहासिक एवं राजनैतिक विश्लेषण आदि की रचना की है तथा अभी न्याय—राजनीति—अर्थशास्त्र—समाजव्यवस्था (नीतिवाक्यामृतम् की समीक्षा) की रचना कर रहा हूँ।

पैशिक भाव व्यवहार से विश्वशान्ति सम्भव है, न कि तानाशाही से-

(8) विश्व — विश्व का सामान्यतः अर्थ है समग्र/सम्पूर्ण इस दृष्टि से सम्पूर्ण चराचर, स्थावर, जंगम, सूक्ष्म—स्थूल जीव जगत्, प्रकृति (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, नदी, पर्वत, समुद्र आदि) आदि की सुरक्षा—व्यवस्था—समृद्धि के चिन्तन, कथन, लेखन, व्यवहार आदि जो मानव के द्वारा होने योग्य हैं उसे मैं यहाँ ‘विश्व’ विश्लेषण से उल्लेखित कर रहा हूँ। पूर्व प्रकरणों से सिद्ध है कि विश्व का सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्येष्ठ, समर्थशाली जीव मानव है। अतः मानव का राजभाविक कर्तव्य—उत्तरदायित्व—धर्म है कि वह विश्व की सुरक्षा—व्यवस्था—समृद्धि करे।

वैज्ञानिकों से लेकर अकर्त्तावादी मतावलम्बियों के अनुसार विश्व प्राकृतिक है। अतः इन सबका विश्व के ऊपर कोई स्वामित्व—एकाधिकार नहीं है। कर्त्तावादियों के अनुसार विश्व का निर्माता ईश्वर होने से उन सबका भी विश्व के ऊपर कोई स्वामित्व—एकाधिकार नहीं है। भले प्रकृतिवादी महा—विस्फोटवादी, शाश्वतिक विश्ववादी, शार्वाकमतानुयायी, ईश्वरकर्त्तावादी या और भी कोई हो वे कोई भी विश्व के ऊपर स्वामित्व—एकाधिकार करने के योग्य हो ही नहीं सकते हैं। हाँ प्रत्येक जीव इस विश्व—ब्रह्माण्ड में रहने, विकास करने के अधिकारी हैं। “माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:” अर्थात् भूमि माता है, उसका पुत्र हूँ के अनुसार पृथ्वी में जन्म लेने वाले प्रत्येक जीवों का अधिकार पृथ्वी में जीने का है—विकास करने का है—सुखी रहने

का है, उसी प्रकार अन्य सब जीवों का भी है। ऐसी परिस्थिति में मानव का पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि वह इस प्राकृतिक व्यवस्था, जन्म सिद्ध अधिकार का निर्वहण करें और दूसरों को भी करने दें। अतएव कोई भी मानव भले वह सामान्य जन से लेकर सत्ता—सम्पत्ति—शक्ति—बुद्धि—धन—जन सम्पन्न (राजा, नेता, राष्ट्राध्यक्ष, सेनापति, सप्राट आदि) ही क्यों नहीं हो वह दूसरों के इस प्राकृतिक अधिकार का न ही लोप करे, न ही उल्लंघन या दुरुपयोग करे अथवा कम करे।

पूर्व प्रकरण के अनुसार सिद्ध है कि सामाजिक व्यवस्था के पहिले पृथ्वी के किसी भी भूखण्ड आदि के ऊपर किसी का भी एकाधिकार नहीं था। प्राकृतिक सूर्यकिरण के ऊपर जिस प्रकार अभी भी किसी भी व्यक्ति—जाति—समाज—राज्य—सरकार का एकाधिकार—स्वामित्व नहीं है परन्तु सबके लिए है; आवश्यकतानुसार जो जितने अंश में प्रयोग करता है, उतना अंश ही उसका है, इसी प्रकार प्राग्‌सामाजिक काल में प्राकृतिक संसाधन (जमीन, भोजन, वायु, वृक्ष आदि) के बारे में होता था। सामाजिक व्यवस्था के बाद जनसंख्यावृद्धि, लोभ प्रवृत्ति, आवश्यकता की वृद्धि, वर्चस्व की प्रवृत्ति, अहंवृत्ति आदि के कारण विषमता, कलह, दोष प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसके समाधान के कारण पृथ्वी/जमीन का सीमा निर्धारण, राजतन्त्र की स्थापना, देश विभाजन, न्याय नीति—दण्डनीति आदि की स्थापना हुई। तथापि जिस विषमता आदि के समाधान के लिए इन सब विधानों का शुभारम्भ किया गया किन्तु आन्तरिक समाधान के बिना वे सब विधान भी बाह्य में विघ्न उत्पन्न करने के लिए साधक बने। जमीन की सीमा को लेकर भाई—भाई से लेकर राष्ट्र—राष्ट्र तक में विषमता से लेकर युद्ध—महायुद्ध प्रारम्भ हुए। क्षुद्र विचारों के कारण विभाजित मानव अविभाज्य पृथ्वी को भी खण्ड—विखण्डित करके एक—एक खण्ड के ऊपर एकाधिकार—स्वामित्व जताने बताने लगा। अन्यान्य खण्ड की मानवजाति, संस्कृति, सम्यता, भाषा, सम्पत्ति आदि के ऊपर स्वामित्व के लिए आक्रमण / विध्वंस करने लगा। स्व—स्वामित्व के ऊपर राग — मोह — तृष्णा — आसक्ति — अहंकारादि करने लगा तो दूसरों के स्वामित्व के प्रति द्वेष — घृणा — विध्वंस की भावना करने

लगा। इन सब कारकों से प्रेरित होकर वह विभिन्न राजनीति — संविधान — न्यायनीति — विदेशनीति — शिक्षा — सम्यता — संस्कृति — युद्धनीति आदि का शोध — बोध — खोज — निर्माण करने लगा। इन सब कारणों से विश्व आन्तरिक — बहिरंग रूप से क्षत — विक्षत — विक्षुब्ध — अशान्त — अविकसित है। इन सब कारणों से जो धन — जन — मन — समय — साधन — श्रम का दुरुपयोग होता है उसका यदि सदुपयोग होगा तब विश्व में सुख — शान्ति — व्यवस्था — समृद्धि और भी तीव्रता से बढ़ेगी। एतदर्थं मानव सर्वप्रथम अन्तरंग विश्व को पवित्र बनाये जिससे विध्वंसक कारण नहीं रहेंगे और उस विध्वंसक कारण के अभाव से धन—जनादि का दुरुपयोग भी स्वयमेव रुक जायेगा। किन्तु सत्ता—सम्पत्ति—अहंवृत्ति—कुबुद्धि से मदमस्त मानव इसे न जानता है, न ही मानता है, न ही अपनाता है। यथा — यौवन धन सम्पत्ति प्रभुत्वं अविवेकता।

एकैकमपि अनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

(1) यौवन (2) धन — सम्पत्ति (3) प्रभुत्व — सत्ता (4) अविवेक में से एक — एक ही अनर्थ के कारण है तब जब एक साथ दो या तीन अथवा चारों रहेंगे तब कहना ही क्या है ? वहाँ तो अनर्थ ही अनर्थ है, विनाश ही विनाश है। इसके लिए उदाहरण दुर्योधन, कंस, रावण, रोमन साम्राज्य, हिटलर आदि—आदि हैं।

वैशिवक सुख, शान्ति, एकता, समृद्धि के लिए भाव की पवित्रता, समता, आध्यात्मिक—वैज्ञानिक दृष्टि, सहअस्तित्व, सहजीवित्त्व, वैशिवक—अन्तः निर्भरशीलता आदि सिद्धान्त आचरणीय है।

सर्व सत्वेषु ही समता सर्वाचरणानां परमं चरणम् ॥

समस्त प्राणियों में समता भाव रखना अर्थात् उनकी रक्षा करना सभी सत्कर्तव्यों में सर्वोत्तम कर्तव्य है।

सर्वेऽपि भवन्तु सुखिनः, सन्तु सर्वेनिरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमानुयात् ॥

सम्पूर्ण जीव जगत् सुखी—निरोगी, भद्र, विनयी, सदाचारी रहे। कोई भी कभी भी थोड़े से दुःख को प्राप्त न करे।

शिवमस्तु सर्वजगतः परहित निरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषा प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥

सम्पूर्ण विश्व मंगलमय हो, जीव समूह पर हित में निरत रहे,
सम्पूर्ण दोष विनाश को प्राप्त हो जावे, लोक में सदा—सर्वदा जीव
सम्पूर्ण प्रकार से सुखी रहें।

मा कार्षीत् कोपि पापानि, मा च भूतः कोपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषां, मतिर्मैत्री निगद्यते॥

कोई भी पाप कार्य को न करें, कोई भी दुःखी न रहे, सम्पूर्ण
जगत् दुःख, कष्ट, वैरत्व से रहित हो जाये, इस प्रकार की भावना को
मैत्री—भावना कहते हैं।

कायेन, मनसा वाचा सर्वेष्वपि च देहिषु।
अदुःख जननी वृत्ति मैत्री, मैत्री विदां मता॥

काय, मन, वचन से सम्पूर्ण जीवों के प्रति ऐसा व्यवहार करना
जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे, इस प्रकार के व्यवहार को मैत्री—भावना
कहते हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि, आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषुचात्मानं, ततो न विजुगुप्सते॥

जो अन्तः निरीक्षण के द्वारा सब भूतों (प्राणियों) को अपनी
आत्मा में ही देखता है, और अपनी आत्मा को सब भूतों में, वह फिर
किसी से घृणा नहीं करता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः क शोकः, एकत्वमनुपश्यतः॥

जिस ज्ञानी के ज्ञान में सब भूत आत्मवत् हो गये हैं, उस
सर्वत्र एकत्व के दर्शन करने वाले समदर्शी को फिर मोह कैसा और
शोक कैसा ?

एतदर्थं मैंने (1) जैन एकता एवं विश्व शान्ति (2) तत्त्व—चिन्तन—
सर्वधर्म समता से विश्वशान्ति (3) वैश्वीकरण—वैश्विक धर्म एवं
विश्वशान्ति (4) विश्वशान्ति के अमोघ उपाय आदि की रचना की है।

जीवन निर्वाह के लिए धन है, न कि धन के लिए जीवन -

(9) धन — सम्पत्ति (परिग्रह) — मानव जीवन के लिए
भौजन, जल, वस्त्र, निवास, औषधि, पात्र, शास्त्र, ज्ञानोपकरणादि की
आवश्यकता होती है, एतदर्थं धन—सम्पत्ति की आवश्यकता होती है।
इसके साथ—साथ दान, पुण्य, परोपकारादि के लिए भी धन की
आवश्यकता होती है। इसलिए भारतीय संस्कृति में धर्म—अर्थ—काम—मोक्ष
रूपी पुरुषार्थ चतुष्टय में अर्थ पुरुषार्थ को मध्य में स्थान प्राप्त है।
अर्थात् धर्म पूर्वक अर्थार्जन करो और काम पुरुषार्थ भी धर्म—अर्थ—मोक्ष
पुरुषार्थ के मर्यादा में रहकर सेवन करो। मोक्ष पुरुषार्थ सर्वश्रेष्ठ —
सर्वज्येष्ठ होने से मोक्ष के लिए सबसे निवृत्त हो जाओ। भारतीय
संस्कृति धर्म रहित अर्थार्जन एवं कामसेवन को अर्थपुरुषार्थ तथा काम
पुरुषार्थ रूप में स्वीकार नहीं करती है। धर्मरहित होकर जो व्यक्ति
चोरी, ठगी, शोषण, मिलावट, भ्रष्टाचार आदि से धन कमाता है वह
अर्थ पुरुषार्थ नहीं है तथा विवाहेतर सम्बोग, समलैंगिकता, लिव इन
रिलेशनशिप, वेश्यागमन, परस्त्री—परपुरुष गमन, अमर्यादित दम्पत्ति
का अतिकाम सेवन भी काम पुरुषार्थ नहीं है। पुरुषार्थ = (पुरुष =
आत्मा + अर्थ = प्रयोजन) अर्थात् आत्महित (धर्म + मोक्ष) से युक्त
कर्तव्य ही पुरुषार्थ की श्रेणी में गर्भित है, इससे अतिरिक्त को भारतीय
संस्कृति पाप — अधर्म मानती है। ऐसे पुरुषार्थ पूर्वक उपार्जित धन —
चान्य सम्पत्ति जो कि परिवार पोषण लेकर सच्चा — अच्छा दान —
पुण्य परोपकार में सदुपयोग होता है वह तो जीवन निर्वाह एवं जीवन
निर्माण के लिए साधन अन्यथा जो धन अधर्म पूर्वक उपार्जन करके
भोग — विलासिता — फैशन — व्यसन — अहंकार — प्रदर्शन,
भ्रष्टाचार — अत्याचार — आतंकवाद — परपीड़न में अपव्यय किया
जाता है वह सब पाप बाधक परिग्रह है।

जीवन निर्वाह एवं जीवन निर्माण के प्रयोजन से न्यायपूर्वक
उपार्जित धन रूपी साधन से भी अधिक अधिकांश व्यक्ति
भोग—विलासिता आदि के लिए अन्याय पूर्वक धनार्जन करते हैं और
धन को ही साध्य मान लेते हैं। इस प्रकृति एवं प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति
पौर्णों पाप (हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह, कुशील) चार कषाय

(क्रोध, मान, माया, लोभ), सात व्यसन (मद्य – मांस – परस्त्री – वेश्या – शिकार – जुआ – चोरी सेवन) सेवन करता है। यह सब होते हुए भी परिग्रही स्वयं को श्रेष्ठ ज्येष्ठ मानता है और दूसरे भी उसे श्रेष्ठ – ज्येष्ठ – पुण्यात्मा – श्रीमान् – सेठ – धनी मानकर उसे गौरव – आदर देते हैं, उसकी जय – जयकार करते हैं। इन सब प्रवृत्तियों से परिग्रही जो स्वयं बहुत बड़ा पापी है, स्वयं को पापी न मानकर (अवचेतन संतुष्टि से) पुण्यात्मा मानता है तथा इन सब कारणों से और भी अधिक अर्धम पूर्वक – परिग्रह – अर्जन – सञ्चय – सम्वर्धन करता है। अन्य धर्म के साथ–साथ विज्ञान तथा विशेषतः भारतीय धर्म (बौद्ध, वैदिक) और उसमें भी जैन धर्म तो परिग्रह को महापाप पाप का बाप (लोभ पाप का बाप बखाना) मानता है तो प्रायोगिक रूप में हिंसा – असत्य चोरी – कुशील को पाप मानने वाले भी परिग्रह – परिग्रही को पुण्य मानते हैं। अधिकांश व्यक्ति “सर्वगुणाकांचनमाश्रयते” अर्थात् सम्पूर्ण गुण काञ्चन–धन में आश्रय लेते हैं मानकर अन्याय–अत्याचार–पापचार से भी धनार्जन में कोल्हू के बैल या भार ढोने वाले गधे के जैसे लगे रहते हैं। इससे तो वह शारीरिक–मानसिक–आध्यात्मिक रूप से क्षति पहुँचाता ही है। इतना ही नहीं इसका दुष्परिणाम शिक्षा, विज्ञान, धर्म, मानव, समाज, राष्ट्र, राजनीति, विश्व, बड़ा आदमी, प्रसिद्धि, कानून, बुद्धि आदि के ऊपर भी पड़ता है; इन सबका वर्णन इस पुस्तक के तत्-तत् सम्बन्धी प्रकरण में किया गया है।

मैं स्वयं ऐसी धन सम्बन्धी दुष्प्रवृत्ति से बाल्यकाल से निवृत्त रहा हूँ तथा साधु अवस्था से तो प्रतिज्ञा पूर्वक निवृत्त हूँ। जो कुछ हमारे संघ में साहित्य प्रकाशन से लेकर देश–विदेशों में धर्म–प्रभावना के कार्य हो रहे हैं, उन सबके लिए देश – विदेशों के जैन–अजैन महानुभाव स्वेच्छा से तन – मन – धन – समय – श्रम से सहयोग कर रहे हैं। एतदर्थ मैंने (1) अभी की समस्याएँ : सभी के समाधान (2) धार्मिक कुरीतियों का परिशोधन (3) ये कैसे धार्मिक – निर्व्यसनी – राष्ट्रसेवी आदि कृतियों की रचना की है।

(10) नगर को नरक बनने से बचाएँ –

नगर में रहने वालों को नागरिक कहते हैं या जहाँ नागरिक रहते हैं,

उसे नगर कहते हैं। जैन–धर्मानुसार समाज गठन के साथ–साथ ही सर्वप्रथम अयोध्या नगरी का निर्माण हुआ। इन्द्र की आज्ञा से देवों ने बहुत ही विस्तृत–सुव्यस्थित–सुविधाओं से युक्त अयोध्या के निर्माण के अनन्तर लोगों को लाकर वहाँ बसाया।

इतस्ततश्च विक्षिप्तानानीयानीय मानवान्।

पुरी निवेशयामासुर्विन्यासैर्विविधैः सुराः ॥ (73) आदिपुराण

उस समय जो मनुष्य जहाँ–तहाँ बिखरे हुए रहते थे, देवों ने उन सबको लाकर उस नगरी में बसाया और सबके सुविधा के लिए अनेक प्रकार के उपयोगी स्थानों की रचना की।

अयोध्यां न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभिः सुराः ॥ (76 1/2)

वह केवल नाम मात्र से अयोध्या नहीं थी किन्तु गुणों से भी अयोध्या थी। कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकते थे, इसलिए उसका वह नाम सार्थक था। (अरिभिः योद्धं न शक्या—अयोध्या)।

सुकोशला/विनीता/अयोध्या

सुकोशलेति च ख्याति सा देशभिख्यया गता।

विनीतजगताकीर्णा विनीतेति च सा मता ॥ (78)

वह नगरी सुकोशल देश में थी, इसलिए देश के नाम से ‘सुकोशला’ इस प्रसिद्धि को भी प्राप्त हुई थी, तथा वह नगरी अनेक विनीत–शिक्षित पढ़े–लिखे विनयवान् या सभ्य मनुष्यों से व्याप्त थी। इसलिए वह विनीता भी मानी गई थी, उसका एक नाम विनीता भी था।

अध्यवातां तदार्नीं तो तमयोध्यां महर्दिकाम् ।

दम्पती परमानन्ददा ससम्पत्परम्परौ ॥ (82)

जिन्हें अनेक सम्पदाओं की परम्परा प्राप्त हुई थी ऐसे महाराज नाभिराज और मरुदेवी ने अत्यन्त आनन्दित होकर पुण्याहवाचन के समय ही उस अतिशय ऋद्धियुक्त अयोध्या नगरी में निवास करना प्रारम्भ किया था।

इस अयोध्या नगरी में तीर्थकर ऋषभदेव आदि अनेक तीर्थकर, भरत आदि अनेक चक्रवर्ती, श्री राम आदि अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया। ऐसा ही काशी–बनारस, हस्तिनापुर, चम्पापुरी, श्रावस्ती आदि

नगरों में भी अनेक महापुरुषों ने जन्म लिया। प्रायः प्राचीनकाल में नगर – राजधानी में ही अधिकांश महापुरुषों ने जन्म लिया, निवास किया है। भारतीय प्राचीन साहित्यों से ज्ञात होता है कि उस समय में नगरी में श्रीमान्, धीमान्, धर्मात्मा, कलाविद्, दानी, परोपकारी, दयालु राजा, महाराजा, मंत्री, सेनापति, पुरोहित, सेठ आदि निवास करते थे; उनके द्वारा देश–विदेशों में शिक्षा–संस्कृति के प्रचार–प्रसार के लिए विविध कार्यक्रम होते थे। इसलिए तो प्राचीन नगरों में तीर्थस्थल, धर्मस्थल, मन्दिर आदि का निर्माण हुआ था जो अभी तक भी परम्परा रूप से भग्नावशेष रूप से या ग्रन्थों में लिखित रूप में पाया जाता है।

नगर की उपर्युक्त विशेषताएँ कालक्रम से कम होती गई और विकृतियाँ उत्पन्न होती गई। औद्योगिक क्रान्ति के कारण नगर में और भी विकृतियों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है तथा उत्तरोत्तर अच्छाइयाँ भी कम होती जा रही है। नगर की कमियों–विकृतियों में से कुछ अग्रलिखित हैं – (1) नगर में लाखों करोड़ों की भीड़ है तथापि सामाजिकता/प्रेम/सहयोग/एकता की कमी है। (2) शिक्षा है तथापि संस्कार/संस्कृति/सदाचार/सादा जीवन उच्च विचार/उदारता आदि की कमी है। (3) भौतिक साधन–धन है तथापि सुख/शान्ति कम है। (4) यातायात के साधन है परन्तु परस्पर की निकटता/पहचान/आदान–प्रदान कम है। बड़ी–बड़ी अद्वालिकाएँ हैं तथापि लाखों लोग गन्दी बस्तियों में झुग्गी–झोपड़ी में रहते हैं। (5) शरीर मोटे गोरे होते हैं तथापि स्वास्थ्य–स्फूर्ति–ताजगी–कार्यक्षमता कम होती है। (6) फैशन–व्यसन आदि के लिए समय–श्रम–धन–साधन का तो दुरुपयोग करेंगे तथापि माता–पिता–अतिथि–गुरुजन –गुणीजन–रोगी–असहाय–घायल आदि के लिए समय आदि का सदुपयोग कम करेंगे। (7) कलब, पार्टी, पार्क, सिनेमा आदि में जायेंगे तथापि मन्दिर, धार्मिक कार्य, गुरुसेवा, प्रवचन, परोपकारादि को महत्व कम देंगे। (8) उपभोक्तावादी होते हुए भी अनाज, शाक–सब्जी, दूध, पानी उत्पन्न करने वालों को, शारीरिक श्रम करके फैक्टरी, मकान, रोड, उपकरणादि बनाने वालों को हीन मानेंगे। इन सब कारणों से प्राचीन काल में जैसे महापुरुष नगर में होते थे, वर्तमान काल में वैसे/उतनी संख्या में नहीं हो रहे हैं।

यह सब होते हुए भी ग्राम के भोले–भाले–सहल–सरल, अतिथि–परायण, सादा जीवन उच्च विचार, धार्मिक, गुरुभक्त, आहारदानी, सेवाभावी, परोपकारी, भारतीय संस्कृति के अनुसार चलने वालों को भी गंवार, पिछड़े, अनाड़ी, दीन, हीन, मूर्ख, अनपढ़, अयोग्य, अन्धश्रद्धालु, रुद्धिवादी, प्राचीन पंथी मानकर उनसे दूर रहेंगे, उनसे दुर्व्यवहार करेंगे। तथापि वर्तमान काल में ग्राम में ही भारतीय संस्कृति जीवन्त है। इसलिए तो वर्तमान काल में अधिकांश महापुरुष ग्राम से ही होते हैं। भारत में तो कुछ राजनेता को छोड़कर हर विद्या के अधिकांश महापुरुष वर्तमान काल में ग्राम में हुए हैं। ऐसी परिस्थिति में भी ग्राम में भी कुछ बुरे लोग होते हैं तो नगर में भी कुछ अच्छे लोग होते हैं। वर्तमान की नगर की विपरीत परिस्थितियों में भी जो लोग संस्कारवान्, सदाचारी, धार्मिक, नैतिक, उदार, सादा जीवन उच्च विचार वाले हैं वे महान् हैं; ग्राम के अच्छे लोगों से भी अच्छे हैं। इस विषय सम्बन्धी मैंने (1) अग्नि–परिक्षा (2) करो, साक्षात्कार यथार्थ सत्य का (3) नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान आदि कृतियों की रचना की है और अभी कुछ वर्षों से ग्रामों में विहार, निवास एवं चारुमास कर रहा हूँ।

(11) महान् व्यक्तित्व वाला बड़ा आदमी होता है, न कि सत्ता-सम्पत्ति वाला

बड़ा आदमी का यथार्थ अर्थ है – महान्व्यक्ति / सज्जन / वृद्धव्यक्ति / अनुभवीज्ञानी व्यक्ति/ प्रवृद्धजन / श्रेष्ठ–ज्येष्ठ व्यक्ति/ महान् व्यक्तित्व सम्पन्न मानकर। प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ नीति ग्रन्थ यहाँ तक कि ध्यान सम्बन्धी महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ में भी वृद्ध सेवा/सज्जन सेवा – संगति को महत्व दिया है। क्योंकि इनकी सेवा संगति से अनुभव – ज्ञान, संस्कार सदाचार की शिक्षा मिलती है। इसलिए इन्हें गुरु स्थानीय मानकर मान–सम्मान, आदर–सत्कार करने का विधान है। मेरा व्यक्तिगत दीर्घ अनुभव है कि ऐसे व्यक्ति की सेवा संगति से, उनसे अध्ययन, मार्गदर्शन से विषयकों का अधिगम शीघ्र होता है, रहस्य समझ में आता है, मन प्रसन्न होता है, भाव में पवित्रता–उदारता–सरलता–सहजता आती है, ज्ञान–अनुभव में वृद्धि होती है, जो केवल पुस्तक अध्ययन से सम्भव नहीं है या अयोग्य

व्यक्ति की सेवा संगति या उनसे अध्ययन, मार्ग दर्शन से भी केवल उपर्युक्त गुण सम्बव नहीं है अपितु विपरीतता भी सम्भव है। इसलिए कहा है “साधु संगति हरि भजन, जग में दुर्लभ दोई”, “क्षणमति सज्जन संगतिरेका, भवति भवार्णवे तरणे नौका”, “साधु संगति, कठे कोटि अपराध”, “तुम मुझे तुम्हारे मित्रों के बारे में बोलो मैं तुम्हें समझ लूँगा।”

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोः जनः।

स यत्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

श्रेष्ठ महापुरुष जो—जो आचरण करते हैं, वहीं आचरण अन्य लोग अनुकरण करते हैं, क्योंकि मनुष्य एक अनुकरण प्रिय प्राणी है। महापुरुष जो आदर्श—प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, लोग उसका अनुकरण करते हैं। क्योंकि “महाजनःयेन गता सा पंथा” अर्थात् महाजन जिस मार्ग में गमन करते हैं, अन्य साधारण लोग उनका अनुसरण करते हैं। यदि सत्संगति निरतो भविष्यसि भविष्यसि।

अथ सज्जान गोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥

यदि तुम सज्जन पुरुष के सहवास में रहोगे, उनकी संगति में लीन हो जाओगे तो अवश्य ही ज्ञान की गोष्ठी में पड़ोगे अर्थात् उत्तमज्ञान को प्राप्त करोगे। इससे विपरीत दुराचारी, जुआरी, धूर्त, भण्ड वचन बोलने वाले भाट आदि पुरुषों की संगति से सदाचार रूप श्रावक धर्म का नाश होता है। इसलिए आर्य संगति भी त्रिवर्ग साधन में एक कारण है।

सत्संसर्ग सुधास्यन्दैः पुंसां हृदा पवित्रिते ।

ज्ञानलक्ष्मीः पदं धत्ते विवेक मुदितासती ॥ (1) सर्वो—श्लोक

सत्संगति रूपी अमृत के प्रवाह से पवित्र मनुष्यों के हृदय में ज्ञान लक्ष्मी विवेक से प्रसन्न होती हुई पैर रखती है।

शीतांशुरश्मि संपर्काद् विसर्पतियथाम्बुधिः ।

तथा सद्वृतसंसर्गन्त्रूणां प्रज्ञां पयोनिधिः ॥ (2)

चन्द्रकिरणों के सम्पर्क से जिस प्रकार समुद्र बढ़ता है, उसी प्रकार सदाचारी मनुष्यों की संगति से मनुष्यों का प्रज्ञा रूपी समुद्र बढ़ता है।

उत्तमजसंगत्या पुमानिहाप्नोति गौरवं सततम् ।

शुरभि प्रसूनमिलितम् तिलतैलं सुरभिता याति ॥ (1)

यहाँ उत्तमजनों की संगति से मनुष्य निरन्तर गौरव को प्राप्त होता है जैसे, सुगन्धित फूल से मिला हुआ तेल सुगन्ध को प्राप्त हो जाता है।

जाङ्गायं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं । मनोन्नति दिशति पापमपाकरोति ।

तेऽप्रसादयति दिशु तनोति कीर्तिम् । सत्संगति कथ्य किं न करेति पुण्यम् ॥

सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हरती है, वचनमें सत्य का सिञ्चन करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और दिशाओं में कीर्ति विस्तृत करती है। कहो, सत्संगति पुरुषों का क्या नहीं करती ?

सत्—संगति का अर्थ केवल कोई कथावचन, प्रवचन, कीर्तन आदि में ही जाकर बैठ जाना, मनोरंजन, घूमना—फिरना, खाना—पीना आदि नहीं है। अपितु वहाँ जाकर सत्—शिक्षा, बोध (सत् को स्वीकारना ही) लेना है। इसी प्रकार केवल कोई आयु में वृद्ध व्यक्ति के पास बैठना या गप—शप करना, सत्—संगति/वृद्ध सेवा नहीं है।

आयु वृद्धि के साथ—साथ ज्ञान, अनुभव, उदारता, सहिष्णुता, वयालुता, सरल—सहजता, दया, दानशीलता, परोपकारिता, सदाशयता, सहयोग, एकता, गुणग्राहकता आदि की वृद्धि होना स्वाभाविक है, विधेय है, उपादेय है, स्वागत योग्य है। इन सब कारणों से ही भारतीय संस्कृति में गृहस्थावस्था के बाद वानप्रस्थ, सन्यास आश्रम ग्रहण करके स्व—पर विश्वकल्याण के कार्य करने की परम्परा रही है। परिवार समाज में भी ऐसे व्यक्ति की महत्ता, पूजनीयता, उपादेयता रही है। परिवार में भी ऐसे व्यक्ति बच्चों को कथा—कहानी के माध्यम से संस्कार, सदाचार आदि की शिक्षा देते हैं, तो अन्य को भी यथायोग्य, यथापरिस्थिति धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, समन्वय आदि के पाठ प्रायोगिक—वाचनिक रूप से पढ़ाते हैं। इससे परिवार से लेकर समाज, राष्ट्र आदि में प्रेम—सौहार्द्र, सहयोग, समन्वय, संस्कृति, संस्कार की शीतल—मधुर धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहमान होती है।

उपर्युक्त बड़ा आदमी के बड़प्पन अभी धीर—धीरे रूपान्तर होते जा रहे हैं, अभी बड़प्पन/बड़ा आदमी का पैमाना/मापदण्ड

उपर्युक्त न होकर केवल आयुवृद्धि—सत्ता—सम्पत्ति—प्रसिद्धि—पढ़ाई—उच्च नौकरी—आडम्बर—प्रदर्शन—बाहुबल—जनबल रह गया है। ऐसा बड़ा आदमी में सामान्य, अनपढ़, ग्रामीण, गरीब से लेकर बच्चों में भी जो अच्छे गुण होते हैं वे गुण नहीं होते हैं। “बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर, पन्थी को छाया नहीं फल लागे अति दूर” के अनुसार बड़ा आदमी अनुदार, संकीर्ण, लोभी, क्रोधी, झगड़ालू, परपीड़क, शोषणकारी, विश्वासघाती, दम्भी, आडम्बरी, निन्दक, छिद्रान्वेषी, विधन सन्तोषी, विघटनकारी, भ्रष्टाचारी, वञ्चक, राष्ट्रद्रोही, फैशनी, व्यसनी आदि दुर्गुणों से युक्त होता है। मैं स्वयं उपर्युक्त दुर्गुणों से निवृत्त हूँ एवं दूसरों को भी प्रेरित करता हूँ।

(12) शान्ति की प्राप्ति ही यथार्थ से विकास/सफलता है, न कि भौतिक उपलब्धि

— जैसा कि बीज की सफलता है (1) अंकुरित होना (2) वृक्ष बनना (3) फूल आना (4) फल आना (5) बीज होना, वैसा ही प्रत्येक जीव की सफलता है शारीरिक — मानसिक — आर्थिक — सामाजिक — आध्यात्मिक विकास करना। प्रकारान्तर से यथार्थ से कहे तो सर्वोदय करना या सर्वांगीण विकास करना अर्थात् शारीरिक — मानसिक — आर्थिक — सामाजिक — आध्यात्मिक विकास करना यथार्थ से सफलता है। सूक्ष्म तथा व्यापक दृष्टि से कहे तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य (ज्ञानार्जन), पारिवारिक जीवन—परिवार की सेवा, वानप्रस्थ (समाज सेवा), यतिव्रत (स्व—पर—विश्वकल्प्याण के स्वयं का नियोजन) में सत्पुरुषार्थ करना सफलता है। इन सब के लिए अनिवार्य तथ्य/कारण/कारक है— आत्मविश्वास, सच्चाज्ञान, आत्मपरिशोधन पूर्ण सदव्यवहार जो स्व—पर—विश्व हितकारक है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि बीज विकास करता हुआ पुनः बीज बनना बीज की सफलता है, वैसा ही जीव/मानव के स्व—निहित शक्ति—गुण—धर्म—संभावनाओं का पूर्णतः विकास होना ही यथार्थ से सफलता है। बीज की हर अवस्थाएँ (विकास क्रम) जिस प्रकार स्व—पर हितकारक है उसी प्रकार जिस जीव/मानव की हर अवस्थाएँ (विकास क्रम) स्व—पर हितकारक है, वे ही यथार्थ से सफलता है।

तरुण फल नहीं खात है, नदी न सज्जै नीर।
पहिमन पर काज हित, सज्जन धरे शरीर॥

अन्यथा (उपर्युक्त लाभ एवं सदुपयोग के बिना) के बौद्धिक, शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि विकास—सफलता स्व—पर—विश्व अहितकारी/दुःखदायी/विध्वंसक होने से हेय है, अग्राह्य है, तुच्छ है, गिन्दनीय है।

उप्रत मानसं यस्य तस्य भाग्यं समुन्नतम्।

गोन्नत मानसं यस्य तस्य भाग्यं असमुन्नतम्॥

अर्थात् जिसका मन/भाव उत्त्रत/उदात्त/पवित्र है उसका भाग्य भी उत्त्रत है और इससे विपरीत जिसका मन संकीर्ण/अनुदात्त/अपवित्र है, उसका भाग्य भी छोटा है, खोटा है। जीव की प्रत्येक क्रिया—प्रतिक्रिया भले वह अच्छी हो, बुरी हो, भाव से प्रेरित होती है/भाव से जन्म लेती है। उत्तम भाव से उत्तम कार्य होंगे और निकृष्ट भाव से निकृष्ट कार्य होंगे। अभी तक देश—विदेश में जितने महापुरुष हुए हैं वे सब उच्च भाव से हुए हैं और भविष्य में भी होंगे। जैनों के तीर्थकर, हिन्दुओं के अवतारी पुरुष, ईसामसीह, बुद्ध, ऋषि—मुनि, महात्मा, सामाजिक कार्यकर्ता, समाज सुधारक, वैज्ञानिक इत्यादि में भावों की उदारता पायी जाती है। इसके बिना अन्य गुण भी दुर्गुण हो जाते हैं। जिस प्रकार अच्छा स्वादिष्ट भोजन यदि जल जाता है या वासी हो जाता है या दुर्गम्भयुक्त सड़ा—गला कीड़े युक्त हो जाता है, तब वह भोजन अखाद्य, कुखाद्य हो जाता है। उसी प्रकार पवित्र भावनाओं के बिना सर्वगुणों की दुर्दशा हो जाती है। इस महान्तम् गुण के बिना जीव अपनी अन्यान्य उपलब्धियों का प्रयोग स्व—पर अकल्प्याण के लिए करता है। कहा है—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां परपीड़नाय।

खलस्य साधो विपरीत बुद्धि ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

अनुदार/अपवित्र भावना वाले खल (दुष्ट) व्यक्ति विद्या से गाद—विवाद करते हैं, धन से अहंकारी बन जाते हैं, शक्ति से दूसरों को पीड़ा पहुँचाते हैं इसके विपरीत साधु पवित्र भाव वाले विद्या से ज्ञान प्राप्त करते हैं, धन से दान करते हैं और शक्ति से दूसरों की रक्षा

करते हैं। पवित्र भावनाओं में दया, करुणा, परोपकार, सेवा, दान, त्याग, विनम्रता, सरलता, क्षमा, सहिष्णुता, कोमलता आदि सब गुण गर्भित हैं। आत्मविश्वास — सच्चाज्ञान एवं सदाचरण के बिना जो कुछ बाह्य उपलब्धियाँ/विकास/सफलताएँ (परीक्षा में उत्तीर्ण, विवाह, नौकरी, व्यापार, सत्ता—सम्पत्ति—प्रसिद्धि आदि) प्राप्त होती है वे सब यथार्थ से सफलता नहीं है क्योंकि इससे शान्ति, सन्तुष्टि, तृप्ति आदि न स्वयं को मिलती है न ही दूसरों को मिलती है। इससे विपरीत इससे तो स्व—पर की शान्ति, सन्तुष्टि, तृप्ति नष्ट होती है। स्व—पर शान्ति के बिना जो कुछ विकास है वे सब विनाश के कारण है और जो कुछ सफलताएँ हैं, वे सब असफलता के कारण हैं। इसके लिए प्रसिद्ध उदाहरण हैं — रावण, कंस, दुर्योधन, हिटलर आदि। इसके सूक्ष्म—व्यापक—प्रबल कारण हैं — मनोवैज्ञानिक, कर्म सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक। जब कोई खोटा एवं छोटा भाव से अन्याय, अत्याचार, पापाचारादि से कुछ भी प्राप्त करता है तो उसके मन में अपराध बोध होता है, अनन्तानन्त कर्म परमाणु आत्म—प्रदेशों में पाप रूप में बन्धते हैं, आत्मा में विकृतियाँ—मलिनताएँ उत्पन्न होने से उसके शारीरिक—मानसिक—आध्यात्मिक शक्तियाँ क्षीण होती हैं, उसे भय, उद्वेग, द्वन्द्व, संक्लेश — तनाव आदि सताते हैं, वह शारीरिक — मानसिक — आध्यात्मिक रोगों से ग्रसित हो जाता है जिससे उसकी कार्यक्षमता, तेजस्विता, प्रभावोत्पादकता घट जाती है, सच्चे—अच्छे गुण एवं व्यक्तियों को आकर्षित नहीं कर पाता है। अतः अन्ततोगत्वा उसका विकास ही विनाश के लिए कारण बनता है। जैसा कि नारायण के वध के लिए प्रतिनारायण द्वारा छोड़ा हुआ चक्र वापिस आकर प्रतिनारायण का वध कर देता है। इसी प्रकार अपराध के गहन अनुभव अपराधी की ओर बहुत सी समस्याओं को आकर्षण करता है तो सच्चा—अच्छा भाव एवं व्यवहार अनेक उपलब्धियों को आकर्षित करते हैं।

सफलता और असफलता के बारे में डॉ. जोसेफ मर्फी ने 'द पावर ऑफ योर सबकॉन्स्यायस माइण्ड' में लिखते हैं — 'सफलता शब्द को आस्था और विश्वास के साथ दोहराइए। आपका अवचेतन मन इसे आपके बारे में सच मान लेगा और आपको सफलता की प्रेरणा देगा। अपने अवचेतन मन की रचनात्मक शक्ति को भूलिए मत,

उसे अपनी योजना का हिस्सा बनाइए। जो भी आप सोचते और गहसूस करते हैं, वही होता है। सफल व्यक्ति वह है, जिसने गहन मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक समझ हासिल कर ली है। अगर आप किसी लक्ष्य की स्पष्टता से कल्पना कर सकें, तो आपको आवश्यक चीजें मिल जाएगी। ये चीजें आपको अवचेतन मन की चमत्कारी शक्ति द्वारा ऐसे तरीकों से मिलेगी, जिनके बारे में आप कुछ नहीं जानते हैं।

तीन पायदान : सफलता की अति महत्वपूर्ण पहली पायदान उस काम का पता लगाना और करना है जिससे आप प्रेम करते हैं। जब तक आप अपने काम से प्रेम न करते हों, तब तक सम्भवतया आप उसमें खुद को सफल नहीं मानेंगे, भले ही दुनिया आपको बहुत सफल कहती रहे। काम से प्रेम होने पर आपके मन में उसे करने की गहरी इच्छा होती है। सफलता की दूसरी पायदान काम की किसी विशिष्ट गाथा में विशेषता हासिल करना और उसमें उत्कृष्ट बनने की इच्छा रखना है। 'जैसे—तैसे आजीविका कमाना' सच्ची सफलता नहीं है। आपके लक्ष्य ज्यादा महान्, उदात्त और परोपकारी होने चाहिए। तीसरा कदम सबसे महत्वपूर्ण है। आपको यह सुनिश्चित करना चाहिए कि आप जो करना चाहते हैं, वह सिर्फ आपको ही सफल न बनाएं। आपकी इच्छा स्वार्थपूर्ण नहीं होनी चाहिए। इससे मानवता को लाभ होना चाहिए। सर्किट पूरा होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, आपका उद्देश्य दुनियाँ की सेवा करना या लाभ पहुंचाना होना चाहिए। अगर आप सिर्फ अपने ही लाभ के लिए काम करते हैं, तो आप इस अनिवार्य सर्किट को पूरा नहीं करते हैं। हो सकता है, आप सफल न जाएं, लेकिन आपने अपने जीवन में जो शार्ट—सर्किट किया है, वह आगे चलकर सीमा या बीमारी की ओर ले जा सकता है। जब हम किसी दूसरे को लूटते हैं, तो हम खुद को लूटते हैं। जो भी हम सोचते हैं और महसूस (अनुभव) करते हैं, वही होता है। हम जिसमें विश्वास करते हैं, वही होता है। धोखे से दौलत इकट्ठी करने वाले व्यक्ति को सफल नहीं माना जा सकता। मानसिक शान्ति के बिना कोई सफलता नहीं होती है। किसी व्यक्ति की दौलत का क्या कायदा, अगर वह रात को सो नहीं सकता है, बीमार है या उसमें

अपराध बोध की ग्रन्थि है ? अपराध का गहरा अहसास बहुत सी मुश्किलों को आकर्षित करता है। जब आप समझ लेते हैं कि आपके भीतर एक प्रबल शक्ति है जो आपकी सारी इच्छाओं को साकार करने में सक्षम है तो आपको आत्मविश्वास और शान्ति का अनुभव होता है। आप अपनी प्रतिभा से दूसरों को लाभ पहुँचा रहे हों, तो आप सच्ची सफलता के अचूक मार्ग पर हैं। सफलता का मतलब सफल जीवन है। अगर आप शान्त, खुश सुखी हैं और अपना प्रिय काम कर रहे हैं तो आप सफल हैं। अपने खास क्षेत्र में विशेषज्ञ बनें और इसके बारे में अन्य व्यक्ति से ज्यादा जानने की कोशिश करें। सफल व्यक्ति स्वार्थी नहीं होते हैं। जीवन में उनकी प्रमुख इच्छा मानवता की सेवा है।

केवल चमड़ी (सुन्दरता, फैशन), दमड़ी (धन—सम्पत्ति), पढ़ाई (साक्षरता, डिग्री), बड़ाई (आडम्बर, विलासिता, अहंकार, प्रसिद्धि) से ही कोई सफल नहीं हो सकता है जब तक उसे शान्ति की अनुभूति नहीं होती है। इसीलिए तो सत्ता—सम्पत्ति—प्रसिद्धि—साक्षरता से युक्त व्यक्ति भी अशान्त, अनिद्रा, तनाव, मानसिक—शारीरिक रोग आदि से भी ग्रसित रहते हैं, अकेला (बहिष्कृत, असामाजिक) रहते हैं, दूसरों की हत्या के साथ—साथ आत्महत्या तक करते हैं। यह सब होते हुए भी भारत जैसे आध्यात्मिक सांस्कृतिक देश के अधिकांश लोग अभी केवल चमड़ी, दमड़ी, पढ़ाई, बड़ाई को ही स्व—पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म—अर्थ—काम—मोक्ष) मानकर इसके विकास को ही सम्पूर्ण विकास और इसकी सफलता को ही समग्र सफलता मानकर इसके लिए 5 पाप (हिंसा — असत्य — चोरी — कुशील — परिग्रह) 4 कषाय (क्रोध — मान — माया — लोभ) कर रहे हैं। इसके फलस्वरूप वे 7 व्यसन (मद्य—मांस—चोरी—जुआ—परस्त्री—वेश्या—शिकार), 8 मद (ज्ञान—तप—धन—जाति—कुल—सुन्दरता—बल—ऋद्धि) मिथ्या मान्यता (चमड़ी—दमड़ी—पढ़ाई—बड़ाई की मिथ्या मान्यता) से आवेशित/प्रभावित/लिप्त होकर अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, पापाचार, मिलावट, शोषण, विश्वासघात, बेर्इमानी करके शारीरिक — मानसिक आध्यात्मिक दृष्टि से रोगी होकर स्व—पर—समाज—राष्ट्र—विश्व का अहित कर रहे हैं, विनाश कर रहे हैं। सुखद आश्चर्य है कि अभी पाश्चात्य देश के अनेक लोग विकास व सफलता के लिए नैतिकता,

सदाचार, दया, परोपकार, उदारता, सहिष्णुता, दान, प्रमाणिकता, कर्तव्यनिष्ठा, आध्यात्मिकता को मान रहे हैं, प्रचार—प्रसार कर रहे हैं, लिख रहे हैं, अपना रहे हैं। जो ऐसे साहित्य लिख रहे हैं, दूसरों को निर्देश—सलाह दे रहे हैं, उन्हें बहुत ही महत्व मिल रहा है, उन्हें सलाहकार/अभिप्रेक/गुरु मान रहे हैं। हमारे देश में भी उन्हें, अनेक साहित्यों को धीरे—धीरे मान्यता मिल रही है। ए.म.बी.ए. आदि कक्षा में पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से लाखों रुपये देकर पढ़कर डिग्री प्राप्त कर रहे हैं। तथापि अधिकांश पढ़ने वाले या पढ़ाने वाले तक नैतिकता, प्रामाणिकता आदि को न ही मानते हैं न ही आचरण में लाते हैं। दुःखद सत्य यह है कि अधिकांश मैनेजमेन्ट संस्थान—गुरु—विद्यार्थी तक भी अनैतिकतादि को ही प्रायोगिक रूप से विकास सफलता के सूत्र रूप में स्वीकार करते हैं, और भी एक दुःखद आश्चर्य का विषय यह है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों में आधुनिक देश—विदेश के सफलता, विकास, मैनेजमेन्ट के सूत्र/उपाय/मार्गदर्शन/अभिप्रेरणा/सुझाव/गुरु से भी अधिक सूक्ष्म, व्यापक, सार्वभौम, शाश्वतिक सूत्र आदि लिपिबद्ध हैं तथापि उसे न पढ़ते हैं, न जानते हैं, न ही पढ़ाते हैं, न ही प्रयोग में लाते हैं। उसे केवल धार्मिक बाह्य क्रिया—काण्ड रूप में रुढ़ि रूप से ढाते रहते हैं। उसी ही विषय को या उससे भी कम या विकृत रूप में भी विदेश के लोग अपनाते हैं तो उसे फैशन रूप से या अन्धानुकरण से भारत के लोग ओढ़ लेते हैं। इसलिए जड़ से कटे हुए वृक्षों को कितना भी सींचने पर भी वे जैसे जीवित नहीं रहते हैं, विकास नहीं करते हैं, फल प्रदान नहीं करते हैं। उसी प्रकार अपनी महान् संस्कृति रूपी जड़ कटे हुए भारतीयों की दुर्दशा है। भारत में भले थोड़ा—बहुत शिक्षा, भौतिकता, आधुनिकता का विकास हुआ है तथापि भारत में यथार्थ विकास स्वरूप सुख — शान्ति — स्वास्थ्य — व्यवस्था — अनुशासन — प्रामाणिकता — कर्तव्यनिष्ठा — स्वच्छता, प्रेम, एकता, दया, दान, परोपकार, पर्यावरण सुरक्षा, सादा जीवन उच्च विचार, सदाचार, सद्विचार, संस्कार, संस्कृति, आध्यात्मिकता आदि का विकास के परिवर्तन में विनाश हो रहा है।

इन सब कारणों से भारत में काम का तनाव बढ़ रहा है। स्वास्थ्य मन्त्रालय के अनुसार अगले 5 साल में देश में ब्रेन स्ट्रोक के मरीजों की संख्या बढ़कर सालाना 17 लाख तक पहुँचने की आशंका

है। देश भर के अस्पतालों में आने वाले 15 से 30 फीसदी स्ट्रोक के मरीज 40 साल से कम उम्र के हैं। इससे भी अधिक घातक है शिक्षा क्षेत्र में। भारत के असम्यक् आधारित विकास मूलक शिक्षा के कारण आज करोड़ों शिशु (2 से 2.5 साल के विद्यार्थी) से लेकर उच्च शिक्षा के विद्यार्थी एक एजुकेशनली ब्रेन स्ट्रोक/तनाव से ग्रसित होने के कारण वे अशान्त, विक्षुब्ध, चिड़चिङ्गापन, डिप्रेशन आदि से युक्त होकर आत्महत्या तक कर रहे हैं। जिस बाल्यकाल में चिन्तामुक्त होकर शारीरिक – मानसिक – सामाजिक – नैतिक – संस्कारगत विकास करना चाहिए ऐसी अवस्था (11–12 साल की आयु) में भी आत्म हत्या कर रहे हैं। यह है भारत के यथार्थ आन्तरिक सफलता विकास। पाश्चात्य संस्कृति की निन्दा करने वाले स्वयं निन्दनीय कार्य कर रहे हैं, और पाश्चात्य के लोग महान् भारतीय संस्कृति को अपनाकर विकास कर रहे हैं। एतदर्थं मैंने (1) उठो! जागो! प्राप्त करो! (2) अग्नि परीक्षा (3) नग्न सत्य का दिग्दर्शन (4) शिक्षा संस्कृति एवं नारी गरिमा आदि कृतियों की रचना की है तथा आध्यात्मिक, भारतीय संस्कृति के माध्यम से विकास के लिए हमारे संघ एवं हमारे शिष्यादि प्रयासरत हैं।

(13) प्रशंसनीय कार्य करें, न कि प्रसिद्धि के लिए – महान् कार्य की सिद्धि से प्रसिद्धि स्वाभाविक रूप से होती है। अर्थात् महान् विचार-आचार-कार्य से प्रशंसा/ख्याति/कीर्ति आनुसंगिक रूप से होती है। प्रशंसनीय कार्य तो करना चाहिए जिससे स्वयमेव प्रशंसा/प्रसिद्धि होगी किन्तु प्रशंसा प्राप्ति के लिए भी महान् कार्य करने से भाव में छोटापन-खोटापन होने से महान् कार्य भी नहीं होगा साथ ही साथ ख्याति तो नहीं होगी भले कुख्याति क्यों न हो जाये। आगम में वर्णन है कि यदि कोई विचार करता है कि मुझे तीर्थकर पदवी मिले जिससे मेरी तीन लोक में प्रसिद्धि होगी, मेरी पूजा होगी तो इस भाव को कुनिदान/अप्रशस्त ध्यान कहा गया और इससे उस जीव का अनन्त आध्यात्मिक विकास रुक जाता है। यदि कोई विचार करता है मुझे उत्तम शरीर मिले जिससे मैं आत्मकल्याण कर सकूँ तो इस भाव को प्रशस्त निदान कहा गया और इससे उसका अनन्त आध्यात्मिक विकास होगा।

इस आध्यात्मिक विकास के कारण उसकी आनुसंगिक रूप से सहजता से प्रसिद्धि हो जाती है; प्रसिद्धि के लिए अलग से कुछ नहीं करना पड़ता है। जैसा कि आम आदि फल के लिए वृक्ष लगाने से वृक्ष की छाया, शीतलता, फूल, फूल की सुगन्धी स्वयमेव प्राप्त हो जाती है वैसा ही आत्मसिद्धि, महान् कार्य सिद्धि रूप प्रसिद्धि फल के साथ-साथ प्रसिद्धि रूपी सुगन्धी फैल जाती है, और यह सुगन्धी सहज, सरल, स्वाभाविक होने से दीर्घकाल स्थायी होती है। जैसा कि तीर्थकर, गणधर, आचार्य, दानकर्ता, श्रेयांस, भगवान् राम, महात्मा द्दनुमान, राम के भ्राता भरत आदि की कीर्ति हजारों – लाखों करोड़ों वर्षों से अभी तक फैली हुई है। अतएव प्रशंसनीय महान् भाव व्यवहार करना उचित है, विधेय है परन्तु प्रशंसा के लिए महान् कार्य भी अनुचित है, अविधेय है। क्योंकि प्रशंसा प्राप्ति के भाव में अहंकार, दीनता, लोभ – स्वार्थ आदि कुभाव होने से उसकी परिणति भी कुप्रभाव उत्पन्न करती है; प्रशंसा के लिए अयोग्य उपायों को भी अपनाना पड़ता है। इसलिए देश-विदेशों के हर क्षेत्र के महापुरुषों ने प्रशंसनीय कार्य तो किया और अभी भी कर रहे हैं तथा आगे भी करेंगे किन्तु प्रसिद्धि रूपी मीठा विष के लिए नहीं किया। भले मीठा विष स्वाद में अच्छा लगता है परन्तु अन्त में घातक होता है उसी प्रकार प्रसिद्धि रूपी मीठा विष है जो कि पहले-पहले सुनने में मीठा लगता है परन्तु अन्ततः विघातक बनता है।

उष्ट्राणां विवाहेषु गीत गायति गर्दभा ।
परस्पर प्रशंसन्ति अहो रूप अहो ध्वनि ॥

अर्थात् ऊँट के विवाह में ऊँट ने गधे को गीत गाने के लिए निमंत्रण दिया। गधा आकर उसके विवाह में उसके रूप की प्रशंसा में गीत गाया तो ऊँट प्रसन्न होकर गधे की ध्वनि की प्रशंसा की। इसी प्रकार साधु, श्रावक जिससे स्वयं की स्वार्थ सिद्धि होती है उसकी प्रशंसा में सुललित, मधुर कण्ठ से राग अलापते रहते हैं। ऊँट भित्त्वा पटं छित्वा कृत्वा गर्दभरोहणं ।
येन-केन प्रकारेण मनुष्यः प्रसिद्धःभवेत् ॥

घट तोड़कर, वस्त्र फाड़कर, गधे पर चढ़कर येन-केन प्रकार से भी मनुष्य प्रसिद्ध बनना चाहते हैं अर्थात् मनुष्य प्रसिद्ध बनने

के लिए योग्य—अयोग्य, न्याय—अन्याय, करणीय—अकरणीय, शोभनीय—अशोभनीय आदि सब कार्य करता है। मेरे दीर्घ अनुभव भी हैं कि अधिकांश सामान्यजन से लेकर साधु—सन्त तक दान, तप, पूजा, विधान, पंचकल्याणक, केशलोंच, जन्म—जयन्ति, दीक्षाजयन्ति, चातुर्मास, विहार, भाषण—प्रवचन, ज्ञानार्जन से लेकर धर्मार्जन, फैशन, व्यसन, हाव—भाव, बोली बोलना, चलना, खाना, जीना आदि प्रसिद्धि /दिखावा के लिये करते हैं। यदि अच्छी भावना से दान आदि श्रावक करते हैं तथा मुनि स्व—कर्तव्यों का पालन करते हैं तब आत्मविशुद्धि, पापकर्म का संवर तथा निर्जरा, पुण्य सञ्चय के साथ—साथ आनुसंगिक रूप से और भी अधिक कीर्ति/प्रसिद्धि स्वयमेव होती है। परन्तु जीव मोह, अहंकार आदि के कारण यथार्थ का परिपालन नहीं कर पाता है। जैसा कि “मृग—मरीचिका”।

जिस प्रकार से सर्प का कांचली त्यागना सरल है परन्तु विष त्यागना कठिन है उसी प्रकार मनुष्य का धनादि बाह्य त्याग करना सरल है परन्तु प्रसिद्धि आदि त्यागना कठिन है। इतनी ही नहीं बाह्य त्याग भी लोकेष्णा (प्रसिद्धि) को घटाने के लिए ही नहीं या स्वयमेव जो त्याग से प्रसिद्धि होती है उसके लिए भी नहीं परन्तु अहंकार पूर्ण प्रसिद्धि के लिए करते हैं। कहा भी है —

कञ्चन तजना सहज है, सहज तिया का नेह।

मान बड़ाई ईर्ष्या दुर्लभ तजना येह॥

वस्तुतः अन्तरंग में जो मान, कषाय, ईर्ष्याभाव, अंहग्रन्थि, हीन ग्रन्थि है उसके कारण मान बड़ाई (लोकेष्णा) की भावना होती है। इसलिए यह लोक प्रसिद्धि की तृष्णा मानसिक, गम्भीर व्यापक रोग है। इसलिए इसके सद्भाव में मनुष्य विभिन्न प्रकार के कषाय, ईर्ष्या, द्वेष, लड़ाई—झगड़ा, मायाचारी, निन्दा, चापलूसी, संक्लेश, तनाव, युद्ध, हिंसा, हत्या, फैशन, व्यसन, आडम्बर, दिखावा आदि करता है जिससे उसे शान्ति के परिवर्तन में अशांति ही अशान्ति मिलती है, शारीरिक—मानसिक रोग हो जाते हैं, सज्जनों की दृष्टि में उसकी प्रसिद्धि और भी घट जाती है। नीति वाक्य है —

क्षांति तुल्यं तपो नास्ति संतोषान्न सुखं परम्।

नास्ति तृष्णा समो व्यार्थिनच धर्मः दया परः॥

इतना ही नहीं इस पाप के कारण अगले भव में भी दुःखी होता है। यथा —

मान बड़ाई कारज हो धन खरचे मूढ़।

गर करके हाथी होएगा आगे लटकाए सूँड॥

प्राचीन कथानुसार एक दीर्घ तपस्वी भी अपनी प्रशंसा, प्रसिद्धि के लिए अपने यथार्थ परिचय के छिपाने के भाव के कारण गर करके हाथी हुआ। कहा है —

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो।

यदीच्छसि फलं तयोरहि हि लाभ पूजादिकम्॥

छिन्नसि सुतस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः॥

कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्कफलम्॥ (189) आत्मा:

समस्त आगम का अभ्यास और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके यदि उन दोनों का फल तू यहाँ सम्पत्ति आदि का लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो समझना चाहिए कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्ष के फूल को ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्था में तू उसके सुन्दर व सुस्वादु पके हुए रसीले फल को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार कोई मनुष्य वृक्ष को लगाता है, जल सिञ्चन आदि से उसे बढ़ाता है, और आपत्तियों से उसका रक्षण भी करता है, परन्तु समयानुसार जब उसमें फूल आते हैं तब वह उन्हें तोड़ लेता है और इसी में सन्तोष का अनुभव करता है। इस प्रकार से वह मनुष्य भविष्य में आने वाले उसके फलों से विच्छिन्न ही रहता है। कारण यह है कि फलों की उत्पत्ति के कारण तो वे फूल ही थे जिन्हें कि उसने तोड़कर नष्ट कर दिया है। ठीक इसी प्रकार से जो प्राणी आगम का अभ्यास करता है और घोर तपश्चरण भी करता है परन्तु उसके फलस्वरूप प्राप्त हुई ऋद्धियों एवं पूजा प्रतिष्ठा आदि में ही सन्तुष्ट हो जाता है तो उसको उस तप का जो यथार्थ फल स्वर्ग मोक्ष का लाभ था वह कदापि नहीं प्राप्त हो सकता है। अतएव तपरूप वृक्ष के रक्षण एवं सम्बद्धन का परिश्रम उसका व्यर्थ हो जाता है। अभिप्राय यह हुआ कि यदि तप से ऋद्धि आदि की प्राप्ति रूप लौकिक लाभ होता है तो इससे साधु को न तो

उसमें अनुरक्त होना चाहिए और न किसी प्रकार का अभिमान ही करना चाहिए। इस प्रकार से उसे उसके वास्तविक फलस्वरूप उत्तम मोक्षसुख की प्राप्ति अवश्य होगी।

जैन धर्म के आत्मानुसासन, परमात्म प्रकाश, समयसार आदि ग्रन्थों में तथा उपनिषद् में ख्याति, पूजा, प्रसिद्धि, लोकेष्वा, लाभादि से दूर रहने के लिए आध्यात्मिक साधक को बार—बार सम्बोधित किया है, सचेत किया है। उपनिषद् में तो ख्याति आदि को शूकर विष्ठा कहा है। इसका रहस्य यह है कि जिस प्रकार शूकर विष्ठा मनुष्य की विष्ठा होने के कारण घृणित है, त्यजनीय है उसी प्रकार ख्याति, प्रसिद्धि आदि घृणित है, त्यजनीय है। संसारी जीव भौतिक सम्पत्ति भोग आदि में लिप्त रहता है, परन्तु साधु तो बाह्यतः ये सब त्याग कर लिए हैं, परन्तु अन्तरंग में जो राग—द्वेष—मान आदि कषायें हैं उनके त्याग के बिना ख्याति पूजा आदि की भावना होती है और तदनुकूल वे उसी प्रकार का कार्य करने के लिए विवश होते हैं। इसलिए गृहस्थ बाह्य भौतिक साधनों के लिए जो कुछ आरम्भ—समारम्भ, लन्द—फन्द, संकलेश, तेरा—मेरा, आर्कषण—विकर्षणात्मक कार्य करता है उसी प्रकार साधुओं को भी करना पड़ता है भले बाह्यतः उसका रंग—रूप, आकार—प्रकार कुछ भी हो अन्तरंग स्वरूप एक परिग्रहधारी गृहस्थ के समान होता है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में कहा है—

“ख्याति पूजा लाभ रूप लावण्य सौभाग्य पुत्र कलत्र राज्यादि विशूति निमित्तं राग द्वेष पहतार्त रौद्र परिणत यदाराधनं करोति।”

अर्थात् जीव ख्याति (लोक में प्रसिद्धता) पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्यादि की सम्पदा को प्राप्त होने के लिए जो राग—द्वेष से युक्त आर्त—रौद्र ध्यान रूप परिणामों से सहित आराधना करता है वह यथार्थ से सम्यग्दृष्टि धार्मिक नहीं है भले इससे वह पापानुबन्धी पुण्य बाँधकर उसके फलस्वरूप थोड़ा सा सांसारिक वैभव आदि प्राप्त कर ले तथापि उसका परिणाम कटु ही होता है जैसा कि रावण, कंस, हिटलर, मुसोलिन, सिकन्दर आदि प्रसिद्ध उदाहरण है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में कहा है—

ऐसे दूषित परिणामों में उपार्जित पुण्य पापानुबन्धी पुण्य है। जिसके फलस्वरूप जीव उस पुण्य के फल से प्राप्त वैभव आदि से अहंकारी बन जाता है जिससे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बुद्धि भ्रष्ट होने पर भयंकर पाप करता है। यथा—पूर्वोक्त रावण आदि।

जैनागमों में मद (अहंकार) करने वालों को भी अधार्मिक कहा है तथा जो इन मदों को त्याग करता है वही यथार्थ से सम्यग्दृष्टि, धार्मिक, त्यागी, साधक, साधु—सन्त है।

(1) विज्ञान (कला अथवा हुनर) का मद (2) ऐश्वर्य (हुक्मत) का मद (3) ज्ञान का मद (4) तप का मद (5) कुल का मद (6) बल का मद (7) जाति का मद (8) रूप का मद। इस प्रकार नामों के धारक जो 8 मद हैं इनका सराग सम्यग्दृष्टि को त्याग करना चाहिए और मान कषाय से उत्पन्न जो मद, मात्सर्य, ईर्ष्या आदि समस्त विकल्पों का समूह है इसके त्याग पूर्वक जो ममकार और अहंकार से रहित शुद्ध आत्मा में भावना है वही वीतराग सम्यग्दृष्टि के आठ मदों का त्याग है। कर्मों से उत्पन्न जो देह, पुत्र, स्त्री आदि हैं इनमें यह मेरा शरीर है यह मेरा पुत्र है इस प्रकार की जो बुद्धि है। वह ममकार है और उस शरीर आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर जो मैं गोरे वर्ण का हूँ, मोटे शरीर का धारक हूँ राजा हूँ, मेरी प्रसिद्धि है, इस प्रकार मानना सो अहंकार है।

“अथ ख्याति पूजा लाभ दृष्टि श्रुतानुभूत भोगकांक्षा रूप निदान बंधादि समस्त शुभाशुभ संकल्प विकल्प वर्जित शुद्धात्मा संवित्तिलक्षण परमोपेक्षा संयमासाध्ये संवर व्याख्याने।”

आगे संवर तत्त्व का व्याख्यान करते हैं, जो संवर अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभ व देखे सुने अनुभव हुए भोगों की इच्छा रूप निदान बन्ध आदि सर्व शुभ व अशुभ संकल्पों से रहित शुद्धात्मा के अनुभव लक्षणमई परम उपेक्षा संयम के द्वारा सिद्ध किया जाता है।

मैं स्वयं प्रसिद्धि से दूर रहने का हर प्रकार का प्रयत्न करता हूँ तथा दूसरों को भी इसका पाठ पढ़ाता हूँ। इसके लिए मैंने (1) करो—साक्षात्कार यथार्थ भाव एवं व्यवहार (2) दीक्षा के उद्देश्य एवं विविध दीक्षा विधि आदि की रचना की है।

(14) प्राचीन एवं आधुनिक कानून के गण-दोषों की समीक्षा - (कानून - न्यायनीति) -

जैन धर्मानुसार अति प्राचीन काल में मानव जब असामाजिक रूप से स्वतंत्र रूप से प्रकृति की गोद में सुख—शान्तिमय जीवन

निर्वाह करता था तब राजनीति, संविधान, कानून की आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि वे स्वतंत्र होते हुए भी स्वच्छन्द नहीं थे, शक्तिशाली होते हुए भी दूसरों को कष्ट नहीं देते थे, प्राकृतिक रूप से कल्पवृक्षों से समस्त इच्छित भोगोपभोग की सामग्रियों का प्रयोग करने पर भी चोरी, संचय—परिग्रह इकट्ठा नहीं करते थे, सहज—प्राकृतिक रूप से मन्द कषाय के कारण हिंसादि पंच पाप, सत्य व्यसन, से रहित होते थे, अन्याय, अत्याचार, अपराध नहीं करते थे जिससे उनके लिये राजनीति, कानून—दण्ड—नीति की आवश्यकता नहीं होती थी। परन्तु काल परिवर्तन के कारण तथा सामाजिक रूप से ग्राम नगरादि समूह रूप से निवास करने के कारण उनमें धीरे—धीरे सरल सहज भाव कम होता गया और असहज विकृत भाव उत्पन्न होता जाता गया जिसके कारण वे थोड़ा—थोड़ा दोष—अपराध करने लगे। दोष निवारण के लिए सामाजिक व्यवस्था सुख शान्ति समृद्धि के लिये 14 कुलकर (मनु) आदि तीर्थकर, आदि राजा, आदि शिक्षा शास्त्री भगवान् ऋषभदेव, प्रथम चक्रवर्ती आदि ने राज्य व्यवस्था, राजनीति, न्यायनीति आदि का शुभारंभ किया।

कृत्वादितः प्रजासर्गं तद् वृत्तिनियमं पुनः।

स्वधर्मान्तिवृत्यैव नियच्छब्रशात् प्रजाः (242)

भगवान् ने सबसे पहले प्रजा की सृष्टि (विभाग आदि) की, फिर उसकी आजीविका के नियम बनाये और फिर वे अपनी—अपनी मर्यादा का उल्लंघन न कर सके इस प्रकार के नियम बनाये। इस तरह से प्रजा का शासन करने लगे।

अव्यवस्थानिवृत्यर्थमतः परमतः प्रजाः।

हा मा धिक्कारतो भूताः तिस्त्रो वै दण्डनीतयः (141)

इसीलिये है प्रजाजनों ! अब इसके आगे अव्यवस्था दूर करने के लिए 'हा', 'मा' और 'धिक्' ये तीन दण्ड की धारायें स्थापित की जाती हैं।

मर्यादोल्लनेच्छस्य कथंचित्कालदोषतः।

दोषानुरूपमायोज्याः स्वजनस्य परस्य वा (142)

यदि कोई स्वजन या परजन कालदोष से मर्यादा को लांघने की इच्छा करता है तो उसके साथ दोषी के अनुरूप उक्त तीन धाराओं

का प्रयोग करना चाहिए।

नियन्त्रितो जनः सर्वस्तिसृभिर्दण्डं नीतिभः।

दृष्टिदोषभयत्रस्तो दोषेभ्यो विनिवर्तते (143)

तीन धाराओं से नियंत्रण को प्राप्त हुए समस्त मनुष्य इस भय से त्रस्त रहते हैं कि हमारा कोई दोष दृष्टि में न आ जाये और इसी भय से वे दोषों से दूर रहते हैं।

रक्षणार्थं मनर्थं भ्यः प्रजानामर्थसिद्धये।

प्रमाणामिह कर्तव्याः प्रणीता दण्डनीयतः (144)

अनर्थों से बचने के लिए तथा प्रजा की भलाई के लिये आप लोगों को ये निश्चित की हुई दण्ड की धाराएं स्वीकृत करनी चाहिये।

ये चौदहों ही राजा मर्यादा की रक्षा उपायभूत 'हा' 'मा' और 'धिक्' इन तीन प्रकार की दण्डनीतियों को अपनाते थे। प्रजा के लिये पिता तुल्य थे और अत्यधिक प्रभावशाली थे। जिनसेन स्वामी ने भी आदि पुराण में भोग प्रधान युग की दण्डनीति का वर्णन निम्न प्रकार किया है।

तत्राद्यैः पंचभि नृणां कुलवृद्धिं कृतागसाम्।

हाकारलक्षणो दण्डः समवस्थापितस्तदा (214) पृ.65

हामाकारश्च दण्डोऽन्यैः पञ्चभिः संप्रवर्तितः।

पञ्चभिस्तु ततः शेषैर्हर्माधिकार लक्षणः (215)

उन कुलंकरों में से आदि के पांच कुलंकरों में अपराधी मनुष्य के लिये 'हा' इस दण्ड की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया। उसके आगे के पाँच कुलंकरों ने 'हा' और 'मा' इन दो प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की थी। अर्थात् खेद है कि तुमने ऐसा अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करना, शेष कुलंकरों ने 'हा', 'मा' 'धिक्' इन तीन प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की थी अर्थात् खेद है कि अब ऐसा नहीं करना और तुम्हें धिक्कार है जो रोकने पर भी अपराध करते हो।

शरीर दण्डनं चैव वधबन्धादि लक्षणम्।

नृणां प्रबल दोषणां भरतेन नियोजितम् (216)

भरत चक्रवर्ती के समय लोग अधिक दोष या अपराध करने

लगे थे इसीलिये उन्होंने वध—बन्धन आदि शारीरिक दण्ड की नीति चलायी थी।

“परित्राणाय हि साधुनं विनाशाय च दृष्ट्वाम् । धर्मं संस्थापनार्थाय”

अर्थात् साधु / सज्जन / निर्दोष व्यक्तियों की रक्षा दुष्ट / अपराधी की दुष्टता / अपराधवृत्ति के विनाश / परिशोधन के द्वारा धर्म / न्याय / समता / सहअस्तित्व की स्थापना ही यथार्थ से संविधान—समाजनीति—न्याय—दण्ड नीति है। यह विधान मनुष्य — पशु — पक्षी से लेकर वनस्पति तक के लिये विधेय है अर्थात् प्रकृति के हर जीव परस्पर सहयोग करते हुए सह—अस्तित्व से सुख—शान्तिमय जीवन जीते हुए विकास करने सार्वभौम शाश्वतिक नियम — उपाय ही यथार्थ से संविधान, न्यायनीति है और इसे सुव्यवस्थित बनाये रखना ही राजनीति—दण्डनीति है।

यह सब होते हुए भी मानव अपनी स्वार्थपरता, अंहवृत्ति, क्षुद्रभावना, कुटिलता, सत्ता—सम्पत्ति—प्रसिद्धि—भोगविलासिता की लालसा, पक्षपातवृत्ति के कारण असम्यक्, अनुदार, क्रूरतापूर्ण, पक्षपातयुक्त गलियारों से सहित संविधान, कानून बनाता है, प्रयोग में लाता है। जिस समय जो व्यक्ति, जाति, समाज, राज्य, राष्ट्र, राजा, नेता, राजनैतिक दल शक्तिशाली — प्रभावशाली होते हैं प्रायः वे उपर्युक्त नीति — नियम — कानून का दुरुपयोग करते हैं, स्वयं की स्वार्थसिद्धि के लिये दूसरों को क्षति पहुंचाना भी अथवा ही उनका सर्वोपरि कानून होता है। जैसा कि प्राचीन काल की दास प्रथा, महिलाओं को मताधिकार से रहित रखना, दूसरे देशों के उपर आक्रमण करके उन देशों को विघ्नंस करके उन देशों के राजा — प्रजा को गुलाम बनाकर स्वयं राजा — मालिक बनकर अपनी क्रूरतापूर्ण — अन्याय युक्त राजनीति — दण्डनीति के द्वारा उन्हें शासन करना, शोषण करना, अन्याय — अत्याचार — पापाचार — हिंसाचार करना ही अधिकांश राजा, शासक वर्ग, शासक राष्ट्र का संविधान — कानून रहा है। यह सब हीनाधिक रूप से स्वदेश के राजा, शासक वर्ग से लेकर लुटेरे राजा/जाति तथा उपनैवेशिक वाले राष्ट्र तक में होता रहा अभी भी हर देश के हर तंत्र के शासक वर्ग,

नौकरशाही से लेकर सत्ता — सम्पत्ति — प्रभुत्वशाली व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक में है।

अति प्राचीनकालिन आध्यात्मिक — सांस्कृतिक देश विश्वगुरु भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त होने के 63 वर्षों तक में भी अपनी महान् संस्कृति के अनुरूप संविधान — राजनीति — कानून — व्यवस्था अनुशासन आदि नहीं बना पाया है। भारत में तो पूर्वोक्त कमियों के साथ—साथ और भी अनेक कमियाँ हैं। उनमें से कुछ कमियों का दिग्दर्शन निम्नोक्त है—

भारतीय संविधान — कानून पूर्णतः भारतीय महान् संस्कृति के अनुरूप नहीं है। अनेक देशों के लिखित, अलिखित संविधानों में से कुछ संकलन करके भारतीय संविधान बना है तथा अंग्रेजों के द्वारा भारत को गुलाम रखकर के शोषण करने योग्य सन् 1860, 1872 के एकट (संहिताओं) का ‘पालन’ करने के लिये स्वतन्त्र भारत के नागरीक भारत को स्वतन्त्र हुए 63 वर्षों तक पालन करने के लिये अभिशप्त हैं। जिस भारत में प्रत्येक प्राणी में भगवान् का निवास माना जाता है तथा वैदिक संस्कृति के अनुसार गाय को सम्पूर्ण देवताओं का निवास मानते हैं तथा गो—माता मानकर पूजा जाता है उसकी हत्या करोड़ों की संख्या में वैधानिक रूप से स्वतन्त्र भारत में भी हो रही है, इतना ही नहीं उनका मांस विदेश तक में निर्यात किया जाता है। जिस संस्कृति में ब्रह्मचर्य को पारिवारिक—सामाजिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है उस देश के उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के द्वारा भी समर्लैंगिकता तथा विवाह पूर्व दो व्यस्क स्त्री—पुरुषों का भी एक साथ निवास करना, सहवास करना, सम्मोग करना, संतान उत्पन्न करना वैधानिक है, निर्णय दिया जा रहा है। कानून में इतने दाँव—पेंच, गलियाँ, धारा—उपधारा है जिसके कारण न्याय की तो बात छोड़ो परन्तु फैसला देने के लिये भी प्रायः 20—30 वर्ष लग जाते हैं जिसके कारण भारत में लाखों नहीं करोड़ों मुकदमें लम्बित हैं। देरी से न्याय मिलना भी एक प्रकार अन्याय है क्यों कि तब तक दोनों पर शारीरिक — मानसिक — आर्थिक — सामाजिक — आध्यात्मिक दृष्टि से रुग्ण तथा मृत हो जाते हैं। केवल भौतिक साक्षी को अति महत्व देने के कारण तथा मनौवैज्ञानिक तथा आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति एवं उपकरण के अभाव

या कम प्रयोग के कारण शीघ्र न्याय नहीं होता है और कथित निर्णय न्याय न होकर अन्याय हो जाता है। यथा – भोपाल गैस त्रासदी सम्बन्धी 1996 में सुप्रिम कोर्ट द्वारा एवं 2010 में निम्न कोर्ट द्वारा दिया गया फैसला आदि।

एक दुर्दान्त अनेक निर्दोष व्यक्तियों का हत्यारे के लिये भी निवास, भोजन, चिकित्सा, सुरक्षा के लिये करोड़ों रुपयों का खर्च हो जाता है एवं एक सामान्य व्यक्ति जो विवशतावशतः भी कुछ दोष कर लेता है या दोष हो जाता है उसके आर्थिक – शारीरिक – मानसिक – समय का शोषण करके उसको अधमरा कर लेते हैं अथवा मार ही डालते हैं। इतना ही नहीं आतंकवादी को भी केन्द्रीय सरकार के प्रमुख मंत्री भी वायुयान में बैठाकर उनके देश को छोड़ा जाता है। लोकतन्त्र में नेता/मंत्री जब जिस रास्ते से गुजरते हैं उस समय में अपने मालिकों को चतुर्थ श्रेणी के नौकर अंग रक्षक/पुलिस के द्वारा अपमानित किया जाता है/खदेड़ा जाता है/मारा जाता है।

नेता/अभिनेता/खल नेता/खेल नेता/ के लिए भारत का कोई भी संविधान/कानून लागू नहीं है। वे तो स्वयं कानून के ऊपर हैं इतना ही नहीं वे कानून के बल पर/नाम पर निर्दोष प्रजाओं का भी शोषण करते हैं, अपमानित करते हैं। आज सामान्य न्यायालय से लेकर उच्चतम न्यायालय तक, सामान्य न्यायिक कर्मचारी से लेकर उच्चतम् न्यायालय तक के प्रधान न्यायाधीश तक कानून संविधान का उल्लंघन करते हैं, भारतीय संस्कृति के विरुद्ध में निर्णय देते हैं। स्वयं भ्रष्टाचार करते हैं एवं भ्रष्टाचारियों को संरक्षण प्रदान करते हैं, उनका पक्ष लेकर मुकदमा लड़ते हैं तथापि यदि कोई न्यायालय, न्यायाधीश, संविधान, कानून की सही कमियों को सुधार करने की दृष्टि से बोलता है, लिखता है तो भी उसे न्यायालय का अपमान एवं संविधान का उल्लंघन मानकर दंडित किया जाता है। यह सब नीति “उल्टा चोर कोतवाल को डांटें” वाली नीति को चरितार्थ करता है। वर्तमान भारतीय कानून के कारण बड़ी मछलियाँ जाल तोड़कर भाग जाती हैं किन्तु छोटी मछलियाँ फंस जाती हैं जिससे उनकी मृत्यु हो जाती है।

अभी भी अधिकांश देश के हर प्रकार के शासन तंत्र/न्यायतंत्र में हर प्रकार के निर्दोष प्राणी (पशु–पक्षी से लेकर वनस्पति तक) को जीने का समान अधिकार नहीं है। किसी भी व्यक्ति से लेकर राष्ट्र या राष्ट्र मंडल का कोई नैतिक प्राकृतिक अधिकार नहीं है कि वे दूसरे निर्दोष प्राणी को गुलाम–बन्दी बनाकर रख सके, उनका शोषण, काय–विक्रय कर सके, उनकी हत्या कर सके। अभी भी प्रगतिशील जीवानिक युग में मानवाधिकार – पशुक्रूरता निवारण वाला संविधान की काल में, पर्यावरण – सुरक्षा – प्रकृति बचाओ – धरती बचाओ, मानव बचाओ के नारों व कानून के समय में अधिकांश देश में हर प्रकार के शासन तंत्र में कानूनतः भी लाखों – करोड़ों गाय, भैस, बकरा–बकरी, सूअर, पंशु–पक्षीओं का क्रूरतापूर्ण वध हो रहा है। अभी भी एक राष्ट्र अन्य राष्ट्र की आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था सीमा आदि का सम्मान/सुरक्षा आदि तो नहीं करते हैं अपरंच बाधा–व्यवधान–विध्वंस करते हैं। प्राकृतिक संसाधन यथा नदी के पानी आदि के लिये प्रतिबन्ध लगाते हैं, प्रयोग करने में बाधा पहुँचाते हैं, उसके निमित्त से कलह–युद्ध करते हैं, इस दृष्टि से मानव अभी तक पूर्णतः न्यायिक–सभ्य–सुसंस्कृत–आदर्श नहीं बना है, कुछ अंश में अभी भी मानव “जिसकी लाठी उसी की भैंस” “शक्ति ही राजनीति–कानून” रूपी नियम को व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामाजिक – राष्ट्रीय – अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना रहा है। इन सब कारणों से सर्वत्र अशान्ति, कटुता, भ्रष्टाचार, आतंकवाद, बर्बरता, पक्ष–पात, राग–द्वेष, शोषण आदि हो रहे हैं जिससे विश्व का सर्वांगीण – सर्वोदय नहीं हो पा रहा है। मैं स्वयं बाल्य विद्यार्थी जीवन से ऐसे गलत कानून को न माना हूँ न मानूंगा। मैं बाल्यकाल से व्यक्तिगत जीवन से लेकर चर्चा, प्रवचन, लेखन, ग्रन्थ में इसका संशोधन के लिये उल्लेख करता हूँ। पशु वध एवं गोवध निषेध के लिए मैंने लोक हित याचिका राज्य सरकार से लेकर केन्द्र सरकार एवं उच्च न्यायालय से लेकर उच्चतम न्यायालय तथा राष्ट्रपति भवन के लिए भी प्रेषित किया हूँ। डॉ. कलाम के राष्ट्रपति रहते हुए राष्ट्रपति भवन से इसकी प्राप्ति स्वीकार भी मेरे पास आ गई है जिसे कुछ पुस्तकों में प्रकाशित है। कुछ लेख एवं साहित्य में इसका उल्लेख यत्र–तत्र किया हूँ परन्तु अभी न्याय, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान (नीति

वाक्यामृतम् की समीक्षात्मक टीका) ग्रन्थ का लेखन चालु है जो शीघ्र प्रकाशित होने वाला है एवं इसके ऊपर राष्ट्रीय – अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजन की भावना है।

(15) सुबुद्धि से विकास तो कुबुद्धि से विनाश -

“बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धिर्य कुतो बलं”, “बुद्धेः फलं तत्त्वं विचारणस्य”, “बुद्धेः फलं अनाग्रह” आदि नीतिवाक्य के क्रमशः अर्थ हैं – “बुद्धिमान् बलवान् होता है, निर्बुद्धि बलवान् नहीं”, “बुद्धि का फल तत्त्व विचार करना है”, बुद्धि का फल अनाग्रह अर्थात् सत्यग्राही – उदार होना है।” इन नीति सूत्रों से ज्ञात होता है कि बुद्धि में शक्ति होती है और वह शक्ति है, सत्य-तथ्य का विचार करके पूर्व की अज्ञानता-हठग्राहिता, संकीर्णता को त्याग करके सनप्र सत्यग्राही बनना। सत्य ही शक्ति, धर्म, नीति, नियम, कानून, संविधान, आत्मा-परमात्मा होने से जो सत्यग्राही होता है वह इन सब गुण – धर्मों को भी प्राप्त कर लेता है। इसलिए बुद्धिमान्, बलवान् होता है। इसलिए कहा है –

जिन परम पैनी सुबुधि छेनी डारि अन्तर भेदिया।

वरणादि और रागादि ते निज भाव को न्यारा किया।।

अर्थात् सुबुद्धि रूपी विश्लेषण शक्ति से शरीर के वर्णादि गुण और राग – द्वेष – मोह रूपी वैभाविक शक्ति को स्वयं से काटकर जो दूर करके शुद्ध – पवित्र – साम्यभावी – वीतराग बन जाता है वह महान् भाग्यशाली है, वह ही संसार के दुःखों से पार होने वाला है, अतः वह ही यथार्थ से परम बुद्धिमान् है। ऐसी परम बुद्धिमान् अवस्था जो प्राप्त करने में जो अभी समर्थ नहीं है तथापि जो सत्ता –सम्पत्ति–प्रसिद्धि–बुद्धि आदि को प्राप्त करके भी बुद्धि भ्रष्ट नहीं होता है, अहंकार नहीं करता है, उपलब्ध सत्तादि से स्व-पर को क्षति नहीं पहुँचाता है वह भी मध्यम बुद्धिमान् है और सत्तादि त्याग करके उपर्युक्त परम बुद्धिमान् अवस्था को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थरत (साधु–सन्त–संन्यासी) है वह उत्तम बुद्धिमान् है किन्तु जो दुर्बुद्धि के कारण सत्तादि का दुरुपयोग स्व-पर अकल्याण में करता है वह कितना भी बुद्धि लब्धि वाला (150 I.Q.) भी क्यों न हो वह कुबुद्धि/मन्दबुद्धि (Dull 70.90 I.Q.)/जड़ बुद्धि (Idiots 0. 25 I.Q.)

वाला है या यथार्थ से कहें तो इससे भी नीच है। क्योंकि वह स्वदुर्बुद्धि से स्व-पर को क्षति पहुँचा रहा है यथा –
पुण्णेण होइ विहवेण होइ मइ–मोहो।
मह मोहेण य पाव ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥ (60)

पुण्ण से घर में धन–वैभव होता है और धन से अभिमान, मान और बुद्धि भ्रम होता है। बुद्धि के भ्रम होने से (अविवेक से) पाप होता है इस लिए ऐसा पुण्ण हमारा न हो।
सत्यं वाचि मतौ श्रुतं हृदि दया शौर्यं भुजे विक्रमे।
लक्ष्मीर्दानमनूनमर्थिनिचये मार्गं गति निवृतेः॥
प्राग्जनीहं तेऽपि निरहंकाराः श्रुतेगोचराश्चित्रं संप्रति।
लेशतोऽपि न गुणास्तेषां तथाप्युद्धताः॥

भैदाभेद रत्नत्रय की आराधना से रहित देखें, सुनें, अनुभवे भोगों की वाञ्छारूप निदान बन्ध के परिणामों से सहित जो मिथ्यादृष्टि संसारी अज्ञानी जीव है, उसने पहले उपार्जन किये भोगों की वाञ्छारूप पुण्ण, उसके फल से प्राप्त हुई सम्पदा घर में होने से अभिमान (धमण्ड) होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रष्ट कर पाप कमाता है और पाप से भव-भव में अनन्त दुःख पाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टियों का पुण्ण, पाप का ही कारण है। जो सम्यक्त्वादि गुण सहित भरत, राम, पाण्डव आदि विवेकी जीव हैं उनको पुण्ण बन्ध अभिमान उत्पन्न नहीं करता परन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण बनता है। जैसे – अज्ञानियों को पुण्ण के फलभूत विभूति गर्व के कारण है, वैसे सम्यग्दृष्टियों के नहीं है। वे सम्यग्दृष्टि के पुण्ण के प्राप्त हुए चक्रवर्ती आदि की विभूति पाकर मद/अहंकार आदि विकल्पों को छोड़कर मोक्ष को गये अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती, बलभद्र पद में भी निरहंकारी रहे। ऐसा ही कथन आत्मानुशासन ग्रन्थ में श्री गुणभद्राचार्य ने किया है – पहले समय में ऐसे सतपुरुष हो गये कि जिनके वचन में सत्य, बुद्धि में शास्त्र, मन में दया, पराक्रमरूप गुजाओं में शूरवीरता, याचकों में पूर्ण लक्ष्मी का दान और मोक्षमार्ग में गमन है; वे निराभिमानी हुए जिनको किसी गुण का अंहकार नहीं हुआ। उनके नाम शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं परन्तु अब बड़ा अचम्पा है कि इस पंचम काल में लेशमात्र भी गुण नहीं है तो भी उदण्डपना है, यानी

गुण तो रंचमात्र भी नहीं और अभिमान में बुद्धि रहती है। (परमात्म प्रकाश)

- विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। यथा –
1. भावात्मक विचारों के अनुरूप चिन्तन किया ही व्यक्ति की बुद्धि है।
 2. बुद्धि सीखने की क्षमता है।
 3. बुद्धि क्षमतायें अर्जन करने की क्षमता।
 4. थर्स्टन ने अग्रांकित 8 योग्यताओं के पुंज को बुद्धि कहा है –
 1. प्रेक्षण शक्ति (Spatial Ability)
 2. संख्या गणना शक्ति (Number Ability)
 3. शब्दिक शक्ति (Verbal Ability)
 4. बाक शक्ति (Word Fluency)
 5. स्मरण शक्ति (Memory)
 6. आगमन तर्क शक्ति (Inductive Reasoning)
 7. निगमन तर्क शक्ति (Deductive Reasoning)
 8. पर्यवेक्षण गति (Perceptual Speed)

प्राचीन भारत में भी बुद्धि की विवेचना की गयी थी। भारतीय दर्शन के अनुसार बुद्धि अध्यात्मवाद के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भारतीय दर्शन के अनुसार “उपयुक्त समय पर तथा उपयुक्त स्थान पर उपयुक्त वस्तु का पर्यवेक्षण करने की शक्ति ही बुद्धि है।” जीवन परिस्थितियों एवं समस्याओं की श्रृंखला है तथा इनमें समायोजन करना अत्यन्त आवश्यक है। समायोजन उपयुक्त वस्तु के पर्यवेक्षण के अभाव में असम्भव है। वस्तु की प्रकृति उसके उद्देश्य पर निर्भर है। परन्तु प्रत्येक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उचित साधनों का होना भी आवश्यक है। उद्देश्य प्राप्ति की सफलता का माप ही बुद्धि का माप कहा जा सकता है। तकनीकी भाषा में हम कह सकते हैं कि ‘बुद्धि उपयुक्त सम्बन्धों का, जो जीवन के अनुरूप होते हैं और समय तथा व्यक्ति के अनुसार अलग—अलग होते हैं, पर्यवेक्षण है। यह तो एक ही योग्यता है जो विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न समय पर अलग—अलग रूपों में पायी जाती है। अब इस योग्यता को चाहे जो कह सकते हैं, चाहे इसे प्रयोगात्मक बुद्धिमता कहिए या सामान्य

ज्ञान, बुद्धि—तीव्रता या और कुछ, सब एक ही हैं, परन्तु तब भी इस योग्यता को हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं।

1. नई परिस्थितियों से समायोजन रखने की योग्यता
2. सम्बंध एवं सहसम्बंध स्थापित करने की योग्यता
3. उच्च विचारधारा निर्माण करने की योग्यता
4. पूर्वानुभवों से ज्ञानार्जन की योग्यता।

स्टर्न (Stern) ने इस सम्बन्ध में (बुद्धि परीक्षण में) एक महत्वपूर्ण सुझाव दिया। उन्होंने बुद्धि—मापदण्ड के स्थान पर बुद्धि लब्धि (I.Q. - Intelligence Quotient) का एक मौलिक सुझाव पेश किया। वे बुद्धि—माप हेतु बुद्धि लब्धि (I.Q.) का प्रयोग करने लगे। इसके लिए उन्होंने अग्रलिखित सूत्र प्रस्तुत किया—

$$\text{बु.ल. (I.Q.)} = \frac{\text{मानसिक आयु (M.A.)}}{\text{वास्तविक आयु (C.A.)}} \times 100$$

इस सूत्रानुसार मानसिक आयु में वास्तविक आयु का भाग देकर 100 का गुणा कर देते हैं। 100 का गुणा करने से दशमलव नहीं आ पाता, यही लाभ है। यदि किसी छात्र की बुद्धि लब्धि 100 है तो उसे सामान्य बुद्धि वाला छात्र कहेंगे तथा इससे अधिक होने पर उसे तीव्र बुद्धि वाला एवं कम होने पर मन्द बुद्धि वाला बालक कहेंगे। कुछ व्यक्तियों ने बुद्धि—लब्धि के आधार पर भी बालकों का श्रेणी—विभाजन कर दिया है। इस प्रकार के कई श्रेणी विभाजन इस समय देखने को प्राप्त होते हैं तथा अलग—अलग देशों में अलग—अलग श्रेणी—विभाजन किया गया हैं। नीचे इसी प्रकार का एक श्रेणी विभाजन प्रस्तुत है।

जड़ (Idiots)	0-25 (I.Q.)
मूढ़ (Imbeciles)	25-50 (I.Q.)
मूर्ख (Morones)	50-70 (I.Q.)
मन्द बुद्धि (Dull)	70-90 (I.Q.)
सामान्य (Average)	90-110 (I.Q.)
उच्च बुद्धि (Superior)	110-125 (I.Q.)
अति उच्च बुद्धि (Very Superior)	125-140 (I.Q.)

मेधावी या प्रतिभाशाली (Genius) 140 से ऊपर (I.Q.)

मति : स्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । (13)

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और आभिनिबोध इत्यादि अन्य पदार्थ नहीं है अर्थात् मतिज्ञान के ही नामान्तर हैं ।

मतिज्ञानावरण कर्म क्षयोपशम रूप अन्तरंग निमित्त से उत्पन्न हुए उपयोग को विषय करने के कारण मतिज्ञान एक है तथापि कुछ विशेष कारणों से उसमें उपरोक्त भेद हो जाते हैं ।

1. मति – “मननमतिः” जो मनन किया जाता है उसे मति कहते हैं । मन और इन्द्रियों से वर्तमान काल के पदार्थों का ज्ञान होना मति है ।
2. स्मृति – “स्मरण स्मृतिः” स्मरण करना स्मृति है । पहले जाने हुए पदार्थ का वर्तमान में स्मरण आने को स्मृति कहते हैं ।
3. संज्ञा – “सज्जानं संज्ञा” वर्तमान में किसी वस्तु को देखकर यह वही है इस प्रकार स्मरण और प्रत्यक्ष के जोड़ रूप ज्ञान को संज्ञा या प्रत्यभिज्ञान कहते हैं ।
4. चिन्ता – किन्हीं दो पदार्थों के कार्य – कारण आदि सम्बन्ध के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं । इसको तर्क भी कहते हैं । जैसे – अग्नि के बिना धूम नहीं होता है, आत्मा के बिना शरीर व्यापार, वचन व्यापार नहीं हो सकते हैं, पुद्गल के बिना स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हो सकते हैं । इस प्रकार कार्य कारण सम्बन्ध का विचार करना ‘चिन्ता’ है । संक्षिप्ततः व्याप्ति के ज्ञान को चिन्ता कहते हैं ।
5. अभिनिबोध – एक प्रत्यक्ष पदार्थ को देखकर उससे सम्बन्ध रखने वाले अप्रत्यक्ष का बोध – ज्ञान होना अभिनिबोध (अनुमान) है । जैसे – पर्वत पर प्रत्यक्ष धूम को देखकर उससे सम्बन्ध रखने वाली अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होना है ।

‘इति’ शब्द से प्रतिभा, बुद्धि, मेधा आदि को ग्रहण करना चाहिए । दिन और रात्रि में कारण के बिना ही जो स्वतः प्रतिभास हो जाता है वह प्रतिभा है । जैसे प्रातः मुझे इष्ट वस्तु की प्राप्ति होगी या कल मेरा कोई इष्ट सम्बन्धी आयेगा आदि ।

अर्थग्रहण करने की शक्ति को ‘बुद्धि’ कहते हैं ।

पाठग्रहण करने की शक्ति का नाम ‘मेधा’ है ।

कहा भी है – आगमाश्रित ज्ञान मति है । बुद्धि तत्कालीन पदार्थ का सामात्कार करती है । प्रज्ञा अतीत की तथा मेधा त्रिकालवर्ती पदार्थों का परिज्ञान करती है । नवीन–नवीन उन्मेषशालिनी प्रतिभा है ।

—लौकिक प्रत्यक्ष यथार्थ से परोक्ष होने के सोदाहरण कारण—

इन्द्रियाँ, मन विभिन्न वैज्ञानिक यंत्रों के माध्यम से जो ज्ञान प्राप्त होता है भले उसे सामान्यतः तथा विज्ञानानुसार भी प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है, माना जाता है तथापि वह ज्ञान यथार्थ से परोक्षज्ञान है । आधुनिक भौतिक विज्ञान तो इसे ही यथार्थ, प्रमाणिक, सच्चा ज्ञान मानता है, अभौतिक, अमूर्तिक, चेतनात्मक द्रव्य के बारे में विशेष जिज्ञासा, शोध–बोध–खोज, अविष्कार या विश्वास तक नहीं है । यदि विश्वास ही नहीं है तो उस सम्बन्धी शोध–बोध की प्रवृत्ति ही कैसे राखती है ? भौतिक विज्ञान तो अभी तक केवल भौतिक तत्व की संकीर्ण सीमा में ही सिमटा हुआ है, आबद्ध है, कैद है । ऐसी परिस्थिति विज्ञान की जितनी भी उपलब्धियाँ हैं, वह सब भौतिक, परोक्ष, अपूर्ण तथापि लौकिक मर्यादा, व्यवहार, व्यवस्था, सुविधा, सहअस्तित्व, परस्पर सहयोग, उपकार आदि के योग्य विज्ञान, नियम, कानून आदि मान्य हैं । इसलिए सम्यक् मतिज्ञान, सम्यक् श्रुतज्ञान को भी साम्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप से मान्य हैं ।

इन्द्रियों से लेकर वैज्ञानिक यंत्र तक भौतिक एवं सीमित क्षमता वाले होने से उनके द्वारा ज्ञात विषयों में भी पूर्णता नहीं होती है तथा संशय, विपरीत आदि भी होते हैं । जैसा कि आकाश को कोई रंग नहीं होने पर नीला दिखाई देना, दूर की रेल की पटरी की चौड़ाई कम दिखाई देना, सूर्य चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत आदि का छोटा दिखाई देना, ऊँचाई में उड़ते हुए वायुयान का छोटा दिखाई देना तथा पीछे से दूर से उसकी आवाज सुनाई देना आदि । इसी प्रकार मानवकृत राज्य, देश, महादेश की सीमा, भौतिक वस्तुओं का मूल्य, पशु–पक्षी, वनस्पति, पर्यावरण आदि की उपेक्षा करके केवल मानवों के हित में बनाये गये नियम कानून या किसी विशेष समुदाय के संकीर्ण स्वार्थ के लिए बनाये गये नियम कानून आदि भी अपूर्ण, गलत, विपरीत भी हो सकते हैं । बहुधा होते भी हैं । ऐसा ही मन के संकल्प – विकल्प

— विचार — अनुमान — परिकल्पना आदि के बारे में जान लेना चाहिए क्योंकि मन में सीमित क्षमता होने से तथा मन में राग—द्वेष, मोह, संकीर्णता, पूर्वाग्रह, स्वार्थपरता, लालसा, तृष्णा, भय, आशंका, कामुकता, अन्धशृङ्खा — अंधविश्वास, पक्षपात आदि होने के कारण। द्रव्यमान तो भौतिक है ही, इसके साथ—साथ भाव मन भी सूक्ष्म रूप से पौदग्लिक — भौतिक — कर्म जनित है। इसलिए तो दुःख, तनाव, भय, आशंका आदि से प्रभावित होता है। इसलिए मानव को सनप्रसत्यग्राही, उदार प्रगतिशील, सहिष्णु, समताधारी होकर महान् आध्यात्म पुरुषों के अनुभूत सत्य को स्वीकार करना चाहिए, आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी करना चाहिए तथा आध्यात्मिक सत्य तथ्य के अनुसार विचार एवं व्यवहार करना चाहिए।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।

स पश्यत्मास्तत्त्वं सत्तत्वं नैतरो जनः॥ (35) समाधितंत्र

जिस पुरुष का मन रूपी जल, राग—द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, माया आदि की लहरों से चंचल नहीं है, वह मनुष्य अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अपने निर्मल मन में देख लेता है। अन्य मनुष्य उस आत्मा के स्वरूप को नहीं देख पाता है।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।

धारयेत्तदविक्षितं विक्षिप्तं नाश्रेत्ततः॥ (36)

मोह—मिथ्यात्व और राग—द्वेष आदि के क्षोभ से रहित मन आत्मा का स्वभाव है और मोह तथा राग—द्वेष से व्याकुल मन आत्मा की भ्रान्ति अर्थात् भ्रम है। इसलिए राग—द्वेष, मोह से रहित शुद्ध मन बनाना चाहिए। राग, द्वेष, मोह आदि दुर्भावों से मन को मलीन नहीं करना चाहिए।

अन्तरंग - सफलता के सूत्र

आचार्य कनकनन्दी जी कृषि के लिये अच्छी भूमि, पानी, खाद, सुरक्षा, सूर्य किरण, वायु आदि की आवश्यकता है तथापि बीज के बिना यह सब कार्यकारी नहीं है उसी प्रकार उत्तम भावना के बिना शिक्षा से लेकर बुद्धि आदि सब शान्ति — सफलता के लिए कार्यकारी नहीं है अथवा और भी अधिक अहितकारी/विनाशकारी है।

मतिश्रुत और अविद्यान में मिथ्यापन

मतिश्रुतावध्योविपर्ययश्च ।

And Sensitive scriptural visual (knowledge are also) wrong (knowledge).

मति, श्रुत और अवधि ये तीनों विपर्यय भी हैं। ज्ञान का कार्य जानना है। परन्तु जब ज्ञानवरणीय कर्म का उदय होता है। तब ज्ञान की शक्ति कुंठित हो जाती है, परन्तु विपरीत नहीं होती है। किन्तु मोहनीय कर्म के उदय से ज्ञान विपरीत रूप से परिणमन कर लेता है।

विसंजंतकूडपंजरबंधादिसु णिणुवएसकरणेण ।

जा खलु पवट्टइ मई, मइअण्णाणेति णं वेंति । (303)

विषयन्त्रकूटपंजर बंधादिणु विनोपदेशकरणेन ।

या खलु प्रवर्तते मतिः मत्यज्ञानमिति इदं ब्रवति (303)

दूसरे के उपदेश के बिना ही विष यंत्र कूट पंजर तथा बंध आदि के विषय में जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्य ज्ञान कहते हैं। जिसके खाने से जीव मर सके उस द्रव्य को विष कहते हैं। भीतर पैर रखते ही जिसके किवाड़ बन्द हो जायें और जिसके भीतर बकरी आदि को बांधकर सिंह आदि को पकड़ा जाता है, उसको यंत्र कहते हैं। जिससे चूहे वगैरह पकड़े जाते हैं। उसको कूट कहते हैं। रस्सी में गांठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है उसके पंजर कहते हैं। हाथी आदि को पकड़ने के लिए जो गड्ढे आदि बनाये जाते हैं उसको बन्ध कहते हैं। इत्यादि पदार्थों में दूसरे के उपदेश के बिना जो बुद्धि प्रवृत्त होती है। उसको मत्यज्ञान कहते हैं क्योंकि उपदेश पूर्वक होने से वह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जायेगा।

आभीयमासुरक्ष्यं ।

तुच्छा असाहणीया, सुय अण्णाणेति णं वेंति । (304)

आभीतमासुरक्ष

तुच्छा असाधनीय श्रुतज्ञानमिति इदं ब्रुवन्दि । (304)

अर्थ — चौरशास्त्र, तथा हिंसाशास्त्र परमार्थशून्य

तुच्छ अनादरणीय उपदेशों को मिथ्याश्रुतज्ञान कहते हैं।

‘आदि’ शब्द से सभी हिंसादि पाप कर्मों के विधायक तप असमीचीन तत्त्व के प्रतिपादक ग्रन्थों को कुश्रुत और उनके ज्ञान को कुश्रुतज्ञान समझना चाहिये।

सदसतोर विशेषाद्यदृच्छोपलब्धे रुन्मत्तवत् । (32)

From lack of discrimination of the real, and the unreal (the soul with wrong knowledge) like a lunatic, knows things according his own whims.

वास्तविक और अवास्तविक के अन्तर के बिना यदृच्छोपलब्धि (जब जैसा रूप आया उस रूप ग्रहण होने) के कारण उन्मत की तरह ज्ञान भी अज्ञान ही है।

ज्ञेय के अनुरूप जो ज्ञान होता है उसे ‘सम्यग्ज्ञान’ कहते हैं। ज्ञेय के अनुरूप जो ज्ञान नहीं होता उसे ‘मिथ्याज्ञान’ कहते हैं। जब जीवों को श्रद्धान विपरीत होता है, तब ज्ञान भी विपरीत हो जाता है। प्रकृत में ‘सत्’ का अर्थ विद्यमान और ‘असत्’ का अविद्यमान हैं। इनकी विशेषता न करके इच्छानुसार ग्रहण करने से विपर्यय होता है। कदाचित् रूपादिक विद्यमान है तो भी उन्हें अविद्यमान वस्तु को भी विद्यमान कहता है। कदाचित् सत् को सत् और असत् को असत् ही मानना है। यह सब निश्चय मिथ्यादर्शन के उदय से होता है। जैसे वित्त के उदय से आकुलित बुद्धि वाला मनुष्य माता को भार्या और भार्या को माता मानता है जब अपनी इच्छा की लहर के अनुसार माता को माता और भार्या का भार्या ही मानता है तब भी वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार मत्यादिक का भी रूपादिक में विपर्यय जानना चाहिए।

ज्ञान-मद के कारण

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने । (13) स्व. सू. पृ. 571

प्रज्ञा conceit and : अज्ञान Lack of knowledge, sufferings are caused by the operation of ज्ञानवरणीय] knowledged obscuring karmas.

ज्ञानावरण के सद्भाव में प्रज्ञा और अज्ञान परिषह होती है, प्रज्ञा क्षायोपशमिकी है अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होती है। अन्य ज्ञानावरण के उदय के सद्भाव से प्रज्ञा का सद्भाव है।

अतः क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरण के उदय में उत्पन्न करती है। सर्व ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाने पर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान परिषह ज्ञानावरण कर्म के उदय से उत्पन्न होती है अर्थात् इन दोनों परिषहों की उत्पत्ति में ज्ञानावरण कर्म का उदय ही कारण है। केवल ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय होने पर केवल ज्ञान होता है। केवल ज्ञान होने पर किसी भी प्रकार अहंकार नहीं होता है। जो अत्यंत अज्ञानी है जैसे – एकेन्द्रिय आदि जीव; इनके विशिष्ट क्षायोपशम नहीं होने से तथा तीव्र ज्ञानावरणीय का उदय होने पर विशेष ज्ञान न होने के कारण इनके भी प्रज्ञा और अज्ञान परिषह विशेष नहीं होती है।

लोकोक्ति भी है – “रिक्त चना बाजे घना” भृत्यहरि ने कहा भी है—
अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।

ज्ञानलवदूर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रंजयति ॥ नीतिशतक (13)
नासमझ को सहज में प्रसन्न किया जा सकता है। समझदार को उससे भी सहज में प्रसन्न किया जा सकता है परन्तु जो न समझदार है, न नासमझ है ऐसे श्रेणी के मनुष्य को ब्रह्मा भी संतुष्ट नहीं कर सकते। इसलिए इंग्लिश में कहावत है –

A half mind is always dangerous जो अल्पज्ञ होते हैं वे भयंकर होते हैं। The little mind is proud of own condition. संकीर्ण मन एवं कम बुद्धि वाले अधिक अहंकारी होते हैं। अल्पज्ञ लोग अहंकार से स्वयं को सर्वज्ञ मानकर सत्य को इंकार करते हैं। महान् नीतिज्ञ चाणक्य ने बताया है –

मूर्खस्य पंच चिद्वानि गर्वा दुर्वचनी तथा ।

हठी चाप्रियवादी च परोक्तं नैव मन्यते ॥

मूर्खों के निम्नलिखित पांच चिन्ह हैं –

- | | |
|---|-----------------|
| 1. अहंकारी होना | 3. हठग्राही |
| 2. अपशब्द बोलना | 4. अप्रिय बोलना |
| 5. दूसरों के द्वारा कहा हुआ हित सत्य नहीं मानना । | |

अबहुश्रुत का स्वरूप :

ये यावि होइ निणिज्जे भद्धे लुद्धे अणिगगहे।
अभिक्खणं उल्लवई अविणीए अबहुस्सुए॥ (2)

(उत्तरा. पृ. 175) सर्वो.मनो पृ. 621

जो विद्या रहित है, विद्यावान् होते हुए भी अहंकारी है, जो (रसादि में) लुध्य (गृद्ध) है, जो अजितेन्द्रिय है, बार—बार असम्बद्ध बोलता (बकता) है तथा जो अविनीत है, वह अबहुश्रुत है। अबहुश्रुत और बहुश्रुतता की प्राप्ति के कारण —

अहं पंचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लम्बई।

थम्मा कोहा पमाएणं रोगेणाऽलस्सएण य ॥ (3)

पांच स्थानों (कारणों) से (ग्रहणात्मिका और आसेवात्मिका) शिक्षा प्राप्त नहीं होती, (वे इस प्रकार हैं) —

1. अभिमान 3. प्रमाद 5. आलस्य

2. क्रोध 4. रोग और

इन्हीं पाँच कारणों से अबहुश्रुतता होती है।

अह अद्वाहिं ठाणेहिं सिक्खसीले ति पुच्छई।

अहस्सिरे सया दत्ते न य मम्ममुदाहरे॥ (4)

नासीले न विसीले ने सिया अइलोलुए।

अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले ति पुच्छई॥ (5)

इन आठ स्थानों (कारणों) के शिक्षाशील कहलाता है —

1. जो सदा हंसी—मजाक न करे।

2. दान्त (इन्द्रियों और मन का दमन करने वाला) हो,

3. जो दूसरों का मर्मांदघाटन नहीं करे।

4. जो अशील (सर्वदा चरित्रहीन) न हो।

5. जो विशाल (दोषों — अतिचारों से कलंकित व्रत — चारित्र वाला) न हो।

6. अत्यन्त रसलोलुप न हो।

7. (क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी) जो क्रोध न करता हो

(क्षमाशील हो) और

8. जो सत्य में अनुरक्त हो, उसे शिक्षाशील (बहुश्रुतता की उपलब्धि वाला) कहा जाता है।

“प्रभवतु बलवान् धार्मिकः भूमिपालः” अर्थात् धार्मिक भूमिपाल/राजा/नेता आदि प्रभावशाली — बलवान् बने तथा “सज्जन जागरिया दुज्जन सुसुत्त्या” अर्थात् सज्जन जागृत रहे और दुर्जन सूप्त रहे के माध्यम से भारतीय महान् आचार्यों ने विश्व को यह दिव्य संदेश दिया कि सज्जन धार्मिक व्यक्ति प्रभावशाली, बलशाली, जागृत/बुद्धिमान/सक्रिय बने न कि दुर्जन—पापी। क्योंकि सज्जन — धार्मिक व्यक्ति यदि सत्ता — सम्पत्ति शाली — बुद्धिमान होता है तो वह स्व—पर—विश्व—कल्याण में अपनी उपलब्धियों का सदुपयोग करेगा तथा दुर्जन अधार्मिक व्यक्ति इससे विपरीत अपनी उपलब्धियों का दुरुपयोग के द्वारा स्व—पर—विश्व का अकल्याण करेगा।

उपर्यक्त समस्त वर्णनों से सिद्ध होता है कि सुबुद्धि कल्याणकारी हो तो दुर्बुद्धि अकल्याणकारी है। समनस्क प्राणी ही अपने हिताहित बुद्धि (करणलब्धि) से सम्यक् दर्शन को प्राप्त करके क्रमशः आध्यात्मिक विकास के माध्यम से भगवान् बन जाता है, तो कुबुद्धि के कारण सप्तम नरक को भी प्राप्त करके संसार में विविध प्रकार के दुःखों को भोगता है। जिस शरीर—बुद्धि के सदुपयोग से जीव मोक्ष जा सकता उसके दुरुपयोग से वह सप्तम नरक भी जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि से केवल विकास नहीं होता है अपितु विनाश भी होता है। मोह सहित विशाल ज्ञान भी कुज्ञान है तो मोह रहित थोड़ा भी ज्ञान सुज्ञान है। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अज्ञान (ज्ञान नहीं होना) होता है किन्तु मोह के कारण प्रचुर ज्ञान भी कुज्ञान होता है। अज्ञान के कारण जीव जितना स्व—पर—विश्व को क्षति नहीं पहुँचाता है उससे बहुत अधिक से अधिक क्षति अधिक से अधिक कुज्ञान से पहुँचाता है। क्योंकि अधिक से अधिक विनाशक शक्ति अधिक से अधिक विनाश करती है। इसलिए कोई ज्यादा याद कर लिया, ज्यादा उत्तर दे दिया, भाषण कर लिया, परीक्षा में अधिक नम्बर ले आया तो कोई महान् नहीं हो गया। हिटलर को तो अपने 1 लाख सैनिकों के नाम याद थे और प्रत्येक सैनिक को उसके नाम

से पुकारता था तो भी वह कोई स्व—पर—विश्व कल्याणकारी कार्य नहीं कर सका महात्मा गांधी सामान्य बुद्धि सम्पन्न होते हुए भी उन्होंने महान् कार्य किया। क्योंकि जिनमें संवेदनशीलता, नैतिकता, आध्यात्मिकता होती हैं उनकी सुबुद्धि—लब्धि होती है जिससे वह स्व—पर—विश्वकल्याण करता है।

E-Q के कारण जीव प्रत्येक जीव के प्रति संवेदनशील बनता हुआ S.Q. को वृद्धिगत करता है। S.Q. के कारण जीव की I.Q. एवं E.Q. अधिक सम्यक्, जागृत होती है जिससे उसे सत्य—असत्य, आत्मा—परमात्मा, योग्य—अयोग्य, करणीय—अकरणीय, के प्रति अधिक संचेतना, सक्रियता आ जाती है। इससे वह अधिक से अधिक ज्ञानी, वैरागी, निस्पृही, शांत, साम्य, सुखी होता जाता है। ऐसे जीव ही साधु—संत, धर्मात्मा, महात्मा, परमात्मा बनते हैं। इनके द्वारा ही आध्यात्मिकता, संस्कृति, विश्व—प्रेम, विश्वशांति आदि मंगलमय कार्य संपादन होते हैं। E.Q. (दया, करुणा, परोपकार) तथा I.Q. का यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है। इसलिए S.Q. के अभाव से संस्कृति, आध्यात्मिकता, विश्वशांति आदि का अभाव हो जायेगा। I.Q. से जीव संकीर्ण स्वार्थ सिद्धि कर सकता तो E.Q. से जीव सीमित स्व—पर उपकार कर सकता है परन्तु S.Q. के कारण स्वयं अनंत शांति सफलता को प्राप्त करके विश्व—कल्याण के लिए आदर्श प्रस्तुत करते हैं, उपदेश प्रदान करते हैं, मार्गदर्शन करते हैं। संक्षिप्ततः कहे तो I.Q. से मनुष्य मानव या दानव बन सकता है तो E.Q. से मानव महामानव बन सकता है तथा S.Q. से मानव महामानव बनता हुआ परमात्मा बन जाता है। ज्ञान की दृष्टि से विचार करे तो कुबुद्धि (I.Q.) में (1) कुमतिज्ञान (2) कुश्रुतज्ञान (3) कुअवधिज्ञान होंगे। सुबुद्धि (I.Q. में 1) सुमतिज्ञान (2) सुश्रुतज्ञान (3) सुअवधिज्ञान होंगे। (E.Q. में 1) सुमतिज्ञान (2) सुश्रुतज्ञान तो कुछ जीव में (3) सुअवधिज्ञान (4) मनः पर्यय ज्ञान तथा S.Q. में (1) सुमतिज्ञान (2) सुश्रुतज्ञान के साथ—साथ कुछ जीव में (3) सुअवधिज्ञान (4) मनः पर्यय (5) केवलज्ञान भी संभव है। शांति सफलता की दृष्टि I.Q. वाला संख्यात को E.Q. वाला असंख्यात तथा S.Q. वाला अनंत को प्राप्त करेगा। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से I.Q. (E.Q., S.Q. से रहित) एक सोपान E.Q. वाला छः सोपान तथा S.Q. वाला चौदह सोपान (परम) को प्राप्त

करेगा। ध्यान की दृष्टि से I.Q. (E.Q., S.Q. से रहित) वाला को आर्तरौद्र (संक्लेश—विक्षुब्ध, क्रूरता—तनाव, अस्थिर विचार), E.Q. वाला को धर्मध्यान (शुभ, प्रशस्त, सात्त्विक, स्थिर विचार) तथा S.Q. वाला को धर्म—ध्यान से लेकर शुक्लध्यान (पवित्र, स्वच्छ, विचारातीर) होगा। I.Q. वाला (E.Q., S.Q.) से रहित का वर्तमान जीवन तथा भावी जीवन नरक पशुमय होता है, E.Q. का देव—मानवमय तथा S.Q. का श्रेष्ठ देव—महामानव—परमात्मामय बनता है। तब जीव को परम, अक्षय, अनंत सुख—शांति, सफलता, वैभव, शक्ति, आनंद मिलते हैं। अतः

कुबोध रागादि विचेष्टितैः फलं, त्वयाऽपि भूयोजननादि लक्षणम्।
प्रतीहि भव्य प्रतिलोम वर्तिभिः, ध्रुवं फलं प्राप्त्यसि तद्विलक्षणम्॥

106 आत्मानुशासनम्

हे भव्य ! तूने बार—बार मिथ्यात्व, अज्ञान एवं राग द्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म—मरणादि रूप फल प्राप्त किया है उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों—सम्यज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर—अमर पद को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर।

दयादमत्याग समाधि संततेः प्रथि प्रथाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामनगोचर, विकल्पदूरं परमं, किमप्यसौ॥ 110
हे भव्य ! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इंद्रिय दमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद को प्राप्त करता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

यह सब होते हुए भी अधिकांश मानव केवल बुद्धि या कुबुद्धि को ही महत्व देता है। यहाँ तक की आध्यात्मिक प्रधान देश वाला भारत अभी मुख्यतः बुद्धि/कुबुद्धि को महत्व दे रहा है। 2 से 2.5 साल के नन्हे—मुन्ने, अबोध कोमल, अपरिपक्व—असमर्थ शिशु की बुद्धि को भी बढ़ाने के लिए उसके मस्तिष्क में रटन्त व सूचनायें ढूँसते हैं; उसके दिमाग में अनावश्यक, अप्रिय, अनजान भाषा—विषय, को भरते हैं। उसके सर्वोदय के कारणभूत, मुख्य पाठ—शिक्षा स्वरूप

सुसंस्कार, सदाचार, संवेदनशीलता, नैतिकता, आध्यात्मिकता आदि ऐ प्रत्यक्ष—परोक्ष रूप से वंचित रखा जाता है। इसके कारण विश्वगुरु कहलाने वाला भारत भ्रष्टाचार, अनैतिकता, गन्दगी, अनम्रता, उत्थ्रंखला, मिलावट, कुशीलता, फैशन, व्यसन, अकर्मण्यता, अप्रमाणिकता का साम्राज्य है। इसके प्रतिफल स्वरूप भारत में गरीबी, रोगी, आतंकवाद, अन्नाभाव, जलाभाव, जनसंख्या विस्फोट, महंगाई, आत्महत्या, हत्या, अलगाववाद आदि कुफल मिल रहे हैं। इसके लिए अर्थात् सुसंस्कारादि से रहित शिक्षा के लिए माता—पिता, परिवार, समाज, प्रायवेट शिक्षण संस्थान, शिक्षा विभाग, शिक्षक, कुछ अंश में शिक्षार्थी, शिक्षा पद्धति, परीक्षा पद्धति, सरकार आदि सब प्रत्यक्ष — परोक्ष, आंशिक — पूर्णतः दोषी हैं क्योंकि आज प्राथमिक से लेकर उच्चशिक्षा तक में केवल बुद्धि के एक छोटा अंश स्वरूप स्मरण (मेमोरिंग पावर) को ही मुख्य केन्द्र करके सम्पूर्ण गतिविधियाँ चल रही हैं। इससे मानव के अन्यान्य महत्वपूर्ण गुण/शक्ति/स्वभाव सुप्त—गुप्त रह जाते हैं जिससे मानव का सर्वांगीण विकास/सर्वोदय नहीं हो पाता है।

अभी वैज्ञानिक युग में भी विश्व गुरु कहलाने वाला भारत में बुद्धिलब्धि भी अधिक नहीं है। इसलिए ही तो पृथ्वी के 1/6 जनसंख्या वाला भारत में पृथ्वी के 1/10 भी वैज्ञानिक, लेखक, दार्शनिक, नोबल पुरस्कार, खोजी, दानी, ज्ञानी, धनी, खिलाड़ी, साहित्यकार, इतिहासवेत्ता, राजनीतिज्ञ आदि नहीं पाये जाते हैं। इन सब कारणों से मैं बाल्यकाल से केवल बुद्धि को ही महत्व नहीं देता हूँ। स्व — पर — विश्व के सर्वोदय के लिए मैंने (1) सर्वोदय शिक्षा मनोविज्ञान (2) शान्ति सफलता = $I.Q < E.Q. < S.Q.$ आदि कृति की रचना की है तथा इसके प्रचार—प्रसार के लिये कक्षा शिविर, संगोष्ठी आदि के आयोजन हो रहे हैं।

अन्तर्रंग - सफलता के मूल

आचार्य कनकनन्दी जी जीवन के लिए भोजन, पानी, निवास, वस्त्र, यान — वाहन आदि से भी प्राणवायु की आवश्यकता जिस प्रकार अधिक है उसी प्रकार सुखी — सफलता — विकास के लिए शिक्षा, सम्पत्ति, प्रसिद्धि से भी शान्ति की आवश्यकता सर्वोपरी है।

(16) सुभावना से विकास तो कुभावना से विनाश -

“भावना भवनाशिनी भावना भवद्विनी” अर्थात् उत्तम भावना से संसार के दुःखों का नाश होता है तो कुभावना से दुःखों की वृद्धि होती है। इसलिए कहा है— “यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तातृशी” अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है उसकी सिद्धि (विकास, सफलता, कार्य सम्पादन) भी उसके अनुरूप होती है। इस प्रकरण में भावना के अन्तर्गत श्रद्धा—रुचि, विचार, परिणाम, हृदय की पवित्रता, अभिवृत्ति, सम्वेदना, भाव, दृष्टिकोण, लक्ष्य, ध्यान, अनुभूति आदि को वर्णित किया है। इन सबके सकारात्मक / सम्यक / पवित्र तथा इसके विपरीत नकारात्मक/असम्यक/अपवित्र रूप से दो—दो भेद जो जाते हैं। सकारात्मकता से विकास—सफलता तो नकारात्मकता से विनाश—असफलता प्राप्त होती है। क्योंकि सकारात्मक भावना से भाव में पवित्रता, श्रेष्ठता — ज्येष्ठता, समता, एकाग्रता होती है जिससे भाव शक्तिशाली / प्रभावशाली होता है, बुद्धि सुबुद्धि होती है, ओरा (प्रभामण्डल, आभामण्डल) शुभ्र एवं शक्तिशाली बनता है, दूसरे व्यक्ति प्रभावित होकर सम्मान — सहयोग करते हैं तो नकारात्मक भावना से उपर्युक्त सब गुण एवं उपलब्धियाँ विपरीत हो जाती है। अतएव सम्पूर्ण विकास—सफलता एवं विनाश — असफलता के प्रमुख अन्तर्रंग कारण ‘क्रमशः’ सुभावना एवं कुभावना है।

हृदयसरसिऽयावन्निर्मलेष्यत्यगादे वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात्।
अयाति गुणगणेष्यंतन्तावद्विशंक संयमशमविशेषस्तान् विजेतुंयतस्व॥ (213)

निर्मल और अथाह हृदय रूप सरोवर में जब तक कषाय रूप हिस जल जन्तुओं का समूह निवास करता है तब तक निश्चय से यह उत्तम क्षमादि गुणों का समुदाय निःशंक होकर उस हृदयरूप सरोवर का आश्रय नहीं लेता है इसलिए हे भव्य ! तू ब्रतों के साथ—साथ तीव्र, मध्यमादि उपशम भेदों से उन कषायों को जीतने का प्रयत्न कर।

भाव को सर्वोपरि महत्व इसलिए है कि भाव के अनुसार ही कर्म बन्ध, कर्म निर्जरा, कर्म मोक्ष होता है। इतना ही पुण्य—पाप, सुख—दुःख, सफलता, असफलता मुख्यतः भाव पर ही निर्भर है यथा —

पापं हवई असेसं पुण्णं असेसं हु परिणामम्।
परिणामेण बन्ध मोक्ष जिणसासणे दिष्ठम्॥

जिस प्रकार मद्यपान की इच्छा होने पर व्यक्ति मद्यपान करता है और मद्यपान से उसके शरीर, मन, तंत्रिकातंत्र, क्रिया—कलाप आदि मद्य से प्रभावित होते हैं उसी प्रकार जीव के योग (आत्म प्रदेश के कम्पन) एवं उपयोग (भाव, विचार, संवेग, आवेग) से भी कर्म प्रभावित होता है। शुभयोग—उपयोग से कर्म परमाणु पुण्ण (सुप्रशस्त, सुखदायी) कर्म रूप में परिणमन करते हैं तो अशुभयोग—उपयोग से वे ही कर्म परमाणु पाप (शुभ—अशुभ से परे आत्मा के निर्मल परिणाम) से कर्म परमाणु किसी भी प्रकार के पुण्ण—पाप रूप से परिणमन नहीं करते हैं। उपर्युक्त तीनों परिणामों से केवल नवीन कर्म परमाणुओं में उपर्युक्त परिणमन नहीं होते हैं परन्तु बन्धे हुए प्राचीन कर्म परमाणुओं में भी शिथिलता (ढीलापन, गलन) आती है जिससे कर्म की निर्जरा या क्षय हो जाता है। इस सिद्धान्त को किसी न किसी रूप से मनोविज्ञान, विकित्सा विज्ञान, जीनोमथ्योरी, कानून आदि स्वीकार करते हैं तथा अनुभव में भी आता है। मनोविज्ञान (शरीर विज्ञान) के अनुसार अच्छे भाव से शरीर की ग्रन्थियों से जो रस स्राव होता है वह गुणकारी होता है और दूषित भाव से जो स्राव होता है वह हानिकारक होता है। यहाँ तक कि प्रेम भाव से जब माता बच्चों को दूध पान कराती है तो वह दूध अमृत का काम करता है परन्तु वही दूध दूषित परिणाम से विष तुल्य बन जाता है। इसी प्रकार आत्मविश्वास, अनुकूल विचार आदि अच्छे परिणाम से रोग प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है, रोग शीघ्र दूर होते हैं। इससे विपरीत आत्मविश्वास की कमी, प्रतिकूल विचार आदि से रोग प्रतिरोधक शक्ति घटती है, रोग शीघ्र दूर नहीं होते हैं। इतना ही नहीं दुश्चिन्ता, आवेग, क्रोध, ईर्ष्या, तनाव, उद्वेग आदि दूषित भाव से विभिन्न मानसिक, शारीरिक रोग होते हैं तथा दया, सेवा, परोपकार, क्षमा, मृदुता, सरलता, सहजता, सादा जीवन उच्च विचार से प्रायः रोग नहीं होते हैं और रोग होने पर उसका परिणाम भयंकर नहीं होता है। उपर्युक्त अच्छे परिणाम से रोग प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है। श्वेत रक्त कणिकाओं में वृद्धि होती है आभामण्डल (ओरा) शुभ/उत्तम बनता है। जीनोमाथ्योरी के अनुसार विभिन्न जीन के अनुसार विभिन्न भाव, रोग, अंग—उपांग होते हैं। उस

जीन में परिवर्तन होने पर या करने पर उस — उस जीन सम्बन्धी भाव आदि परिवर्तन भी होता है। प्रायश्चित्त, कानून में भी जो दोष को सच्चे भाव से स्वीकार करता है, क्षमा, प्रार्थना करता है, पुनः दोष नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है उसके भाव में निर्मलता आती है, तनाव दूर होता है, दूसरे भी उसे क्षमा कर देते हैं; गुरु, न्यायाधीश उसे दोष मुक्त कर देते हैं या कम दण्ड देते हैं।

उन्नतमानस यस्य तस्य भाग्यं समुन्नतम्।
नोन्नतमानस यस्य तस्य भाग्यमसमुन्नतम्॥

जिसके मन/भाव उन्नत है उसके भाग्य उन्नत है और जिसके भाव उन्नत/श्रेष्ठ नहीं है उसके भाग्य भी उन्नत नहीं है क्योंकि प्रत्येक जीव स्वभाग्य के निर्माता, उपभोक्ता, संहारकर्ता है। महात्मा बुद्ध ने भी कहा है —

अप्पा कत्ता विकत्ता च दुक्खाणं च सुहाण्य।
अप्पा मित्तमित्तं च दुप्पट्टिय सुप्पट्टिय॥

आत्मा स्वयं के सुख — दुःख का कर्ता है। सुपथगामी आत्मा स्वयं के मित्र है तो कुपथगामी आत्मा स्वयं के लिए शत्रु है। उद्धरेदात्मनात्मनं (ना) आत्मनमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

आत्मा (स्वयं) के द्वारा आत्मा का उद्धार करना चाहिए। आत्मा का पतन नहीं करना चाहिए। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है एवं आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। “भाव्यतेऽनेनेति भावना” अर्थात् जिससे आत्मा भावित होता है वह भावना है। इस दृष्टि से जिस भावना को जीव भाता है वह उस समय (तन्मय) हो जाता है। यथा —

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्वर्ति तादृशी।

यादृशास्तन्तवः काम तादृशी जायते पटः॥

जैसी भावना होती है वैसी ही सिद्धि होती है जैसा कि जिस प्रकार के तन्तु (धागा) होते हैं, उसी प्रकार का वस्त्र होता है।

प्राचीन उपनिषद्कारों ने सुप्त जीवों को जागृत करने के लिए आहान करते हुए कहा है—

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वं तिष्ठति तिष्ठतः।

शेते निषद्य मानस्य चरति चरतो भगः॥ (चरैवेति—चरैवेति)

पुरुषार्थं हीन होकर बैठे रहने से भाग्य भी बैठा रहता है। पुरुषार्थ से खड़ा होने से भाग्य भी खड़ा हो जाता है। पुरुष पुरुषार्थ हीन होने से भाग्य सो जाता है। प्रबल पुरुषार्थ से आगे बढ़ने से भाग्य भी आगे बढ़ता है। इसलिए हे पुरुषार्थी ! आगे बढ़ते चलो ! बढ़ते चलो !

कलिःशयनो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।

उत्तिष्ठं त्रेता भवति कृतः संपद्यते चरन्॥ (चरैवति — चरैवति)

पुरुष शयन करने से उसके लिए वह समय कलियुग होता है अर्थात् पुरुषार्थ नहीं करना कलियुग को आङ्गान करना है, पुरुषार्थ होने पर जागृत होने पर वह काल उसके लिए त्रेता युग हो जाता है, कार्य करने के लिए आगे बढ़ने से वह काल सतयुग हो जाता है। इसलिए हे पुरुषार्थी ! सत्य को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ते ही चलो, बढ़ते ही चलो ।

यत्रैवाहित धीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।

यत्रैवजायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥ (94) स.शतक

मनुष्य की बुद्धि जहाँ जाती है श्रद्धा (रुचि, विश्वास) वहाँ जाती है तथा जहाँ श्रद्धा जाती है वहाँ पर चित्त लगता है। लीनता को प्राप्त करता है। अतः—

Wee see thing not as they are but as we are. Beauty lies in the eye of the beholder.

“जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी ॥”

Action is the end of thought (रोम्या रोलो)

The essence of education is that it be religious (व्हाइट हेड)

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञः।

तस्मात् पापपचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः॥

इस प्रकार जब पुण्य का कारण अपनी ही शुभ परिणाम तथा पाप का कारण भी अपना ही अशुभ परिणाम ठहरता है तब आत्महित की अभिलाषा करने वाले भव्य जीवों को अपने परिणाम (भाव) सदा निर्मल रखने चाहिए, जिससे की उनके पुण्यका सञ्चय और पूर्व

राजित पाप का विनाश होता रहे। अनादिकाल से यह जीव स्वरूप से बर्हिमुख होकर इन्द्रियाँ एवं मन के माध्यम से स्व-शक्ति का विघटन, बिखराव, ह्वास एवं क्षय कर रहा है। इसको ही बाह्य प्रवृत्ति, कुध्यान, अपध्यान, आर्तध्यान, रौद्र-ध्यान, संसार वर्धिनी ध्यान कहते हैं। बाह्य से निवृत्ति होकर स्व में रमण रूप प्रक्रिया को ही सुध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान, योग, लीनता, समाधि आदि से अभिहित करते हैं।

इच्छा निरोधः ध्यानः; इच्छा का सम्यक् रूप से निरोध करना ध्यान है। उमास्वामी आ. श्री ने मोक्षशास्त्र में कहा भी है —

एकाग्र चिन्ता निराधोध्यानं चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकर एक ही विषय में लगाने को ध्यान कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने भी ध्यान का लक्षण कहते हुए पतञ्जलि योग दर्शन के प्रथम धरण में ही कहा है —

“योगाश्चित्तवृत्तिं निरोधः”

चित्त की वृत्तियों का जो निरोध है वह योग कहा जाता है। गीता में श्री कृष्णा ने कहा है — समत्व योग उच्यते (2.48) बुद्धि की समता या समत्व को ही योग (ध्यान) कहते हैं अथवा “योगः कर्मसु कौशलम्” (2.50) अर्थात् शुभाशुभ से मुक्त होकर कर्म करने की कुशलता को योग कहते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त से यह सिद्ध होता है कि मन (बुद्धि, चित्त) की प्रवृत्ति अन्य—अन्य विषय से हटकर एक विषय में स्थिर भाव से केन्द्रीभूत हो जाना, लीन हो जाना, स्थिर हो जाना ही ध्यान है। अतएव ध्याता को ध्यान करने के लिये जो अनिवार्य तथा प्रथम एवं प्रधान नियम है उसका वर्णन आचार्य पूज्यपाद स्वामी समाधि तन्त्र में निम्न प्रकार कहे हैं :—

यत्रैवाहिधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।

यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥ (95)

मनुष्य की बुद्धि में जो बात दृढ़ता से बैठ जाती है उसको उसी विषय का श्रद्धान् या रुचि विश्वास हो जाता है और जहाँ रुचि पैदा हो जाती है, उसी विषय में सोते जागते तथा पागलपन या मूर्छित दशा में भी उसका मन रमा रहता है।

आत्मदृष्टा पुरुष की बुद्धि में आत्मा समाया हुआ होता है। इस कारण सब दशा में उसका मन अपने आत्मा में ही लगा रहता है। बहिरात्मा की बुद्धि अपने शरीर की ओर लगी रहती है, अतः अपने शरीर को ही अपने सर्वस्व (आत्मा) की श्रद्धा से देखा करता है, इसी कारण सोते जागते आदि सभी अवस्थाओं में उसका मन शरीर में ही लीन रहा करता है।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धां तस्मान्निवर्तते ।

यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुताश्चित्स्य तल्लयः ॥ (96)–(समाधितंत्र)

मनुष्य की बुद्धि में जो बात ठीक नहीं समाती उस बात में उसको श्रद्धा रुचि नहीं होती और जिस विषय की श्रद्धा नहीं होती है उस विषय में उसका मन भी लीन नहीं होता। तदनुसार अन्तरात्मा की बुद्धि में अपनी आत्मा कारण से वह आत्मा बहिरात्मा की समझ में शरीर के सिवाय आत्मा और कुछ नहीं है। अतः उसकी श्रद्धा आत्मा में नहीं होती। इसी कारण उसका मन भी आत्मा में लीन नहीं होता। यह जीव अनादिकाल से संसार शरीर भोग, उपभोग इन्द्रिय विषय के राग-रंग में रचा-पचा अनुभव किया सुना है। इसलिए सांसारिक विषय अनुभूत होने के कारण स्व स्वरूप सबसे अधिक निकटवर्ती होने पर भी मन की प्रवृत्ति स्वयमेव सहजरूप का भान अनुभव नहीं होने के कारण स्व स्वरूप सबसे अधिक निकटवर्ती होने पर भी मन की प्रवृत्ति स्व में सरलता से नहीं होती है। इसलिए बाह्य द्रव्यों से चित्त को हटाकर स्व में स्थिर करने के लिए स्वयं का मनन चिन्तन परिज्ञान सतत करना चाहिये। पूज्यवाद स्वामी ने समाधि तंत्र में कहा है—

तदबृयात्तत्यरान्पृच्छेत्तत्परो भवेत् ।

येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥ (58)

आत्म श्रद्धालु को वह आध्यात्मिक चर्चा करनी चाहिए, वह आत्मा सम्बन्धी ही बातें अन्य विद्वानों से पूछनी चाहिए। उसी आध्यात्मिक विषय की चाह रखनी चाहिए। उसी आध्यात्मिक विषय में सदा तत्पर, तैयार या उत्सुक रहना चाहिये। जिसमें अपनी आत्मा का अज्ञान भाव छोड़कर ज्ञान भाव प्राप्त हो।

गीता में कर्मयोगी नारायण श्री कृष्ण ने भी ध्यान के विषय में वर्णन करते हुए कहा है—

अविद्या, रागद्वेष इन्द्रिय विषय में रमायमान चित्त सर्वदा चंचल एवं क्षुभित रहता है। इसलिये मन को स्थिर करना शीघ्र सहज साध्य नहीं है। मन को स्थिर करने के लिए जब श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं तब अर्जुन श्रीकृष्ण को निम्न प्रकार अपना भाव प्रगट करते हैं—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाणि बलवद् दृढः ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ (34) अध्याय 6

हे कृष्ण ! यह मन चंचल, हठीला, बलवान और दृढ़ है। वायु के समान अर्थात् हवा को गठरी बाँधने के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखता है।

श्रीकृष्ण अर्जुन की वास्तविक परिस्थिति एवं कठिनाईयों को अनुभव करके निम्न प्रकार सम्बोधन करते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अम्यासेन तु कौतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (35)

असंयतात्मना योगो दृष्णावृत इति मे मतिः ।

वश्यात्मनातुयतता शक्याऽवाप्तुमुपायनः ॥ (36)

हे महाबाहु अर्जुन ! इसमें संदेह नहीं, कि मन चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है, परन्तु है कौन्तेय ! अम्यास और वैराग्य से वह स्वाधीन किया जा सकता है। मेरे मत में जिसका अन्तः करण काबू में नहीं, उसका (इस साम्यबुद्धि रूप) योग का प्राप्त होना कठिन है, किन्तु अन्तःकरण को काबू में रखकर प्रयत्न करते रहने पर, उपाय से (इस योग का) प्राप्त होना सम्भव है।

जैसे जल स्वभावतः तरल एवं निम्नगामी है उसी प्रकार मन (बुद्धि) भी निम्नगामी है। मन की प्रवृत्ति विषय कषाय में, राग-द्वेष में, राग रंग में होना सहज-सरल है। जैसे जल को धन या उर्ध्वगामी बनाना श्रम साध्य एवं समय साध्य है, उसी प्रकार मन को निर्मल एवं स्थिर करना श्रम साध्य एवं समय साध्य है। जब जल तरल रहता है तब जल स्वभाविक रूप से अधोगमन करता है परन्तु जब घन तुषार

रूप परिणमन करता है तब जल अधोगमन नहीं करता है। उसी प्रकार मन, ज्ञान, वैराग्य, संयम, मनन, चिन्तन, अनुप्रेक्षा अभ्यास के बल से दृढ़ घनीभूत हो जाता है। तब मन अधोगमी (विषय कषायों की ओर प्रवृत्ति करना) चल (अस्थिर, क्षुभित, अशांत, व्यथित) नहीं रहता है। मन को निर्मल, स्थिर, शांत बनाना विश्व का सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे विलष्ट कार्य है। मन चंचल होने का कारण राग-द्वेष है, एवं मन स्थिर होने का कारण राग-द्वेष निवृत्ति है।

रागद्वेषादिकल्लोलौरलोलं यन्मनो जलम् ।

स पश्यत्यात्मस्तत्त्वं तत्तत्वं नैतरो जनः ॥ (35) समाधि तत्र

जिस पुरुष का मन रूपी जल, राग-द्वेष, मोह, मद, क्रोध, लोभ, माया आदि की लहरों से चंचल नहीं है, वह मनुष्य अपने आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अपने निर्मल मन में देख लेता है। अन्य मनुष्य उस आत्मा के स्वरूप को नहीं देख पाता।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।

धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रेत्ततः ॥ (36)

मोह — मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि के क्षोभ से रहित मन आत्मा का स्वभाव है और मोह तथा राग-द्वेष से व्याकुल मन आत्मा की भ्रान्ति अर्थात् भ्रम है। इसलिए राग-द्वेष मोह से रहित शुद्ध मन बनाना चाहिए। राग, द्वेष, मोह आदि दुर्भावों से मन को मलीन नहीं करना चाहिये।

अविद्याभ्यास संस्कारैरवश्यं क्षिप्यते मनः ।

तदैव ज्ञान संस्कारै, स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥ (37)

मन अज्ञान के अभ्यास के संस्कारों द्वारा अपने वश में न रहकर इन्द्रियों के विषय भोगों में फँस जाता है वही मन आत्मा शरीर के भेद-विज्ञान के संस्कारों से अपने आत्म स्वरूप में ठहर जाता है।

उपर्युक्त वर्णनों से सिद्ध होता है कि धर्म का सर्वस्व ही पवित्र भावना है तथा हर प्रकार की शान्ति-समृद्धि सफलता का बीज भी पवित्र भावना है। पवित्र भावना स्वयं भी है, स्वयं के द्वारा स्वयं में ही उत्पन्न होती है, वृद्धि होती है अतः इसके लिए अन्य धन-जन-तन-श्रम की परतंत्रता/आवश्यकता नहीं होती है या कम होती है अतः पवित्र

भावना करना सब से सरल—सहज होते हुए भी सब से महत्वपूर्ण है। तथापि अधिकांश मानव सुभावना तो करते नहीं है किन्तु कुभावना करके स्वपर को क्षति पहुँचाते हैं। प्रायः हर देश के हर क्षेत्र (शिक्षा, व्यापार, राजनीति, कूनन, नौकरी, सेवा, धर्म आदि) के लोग सुभावना के परिवर्तन में कुभावना से आवेशित होकर काम करते हैं, भले बाह्य शिक्षा से लेकर धर्म तक के लिए थोड़ा बहुत तन-धन-समय-श्रम-साधन लगायेंगे परन्तु परिणाम उत्तम नहीं रखते हैं अतः परिणाम/प्रतिफल भी उत्तम प्राप्त नहीं होता है। इसलिए कहा है — “यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्यः” अर्थात् भावशून्य (उत्तम भाव से शून्य) क्रिया सुफल/सफलता को नहीं देती है।

पवित्र भावना के अन्तर्गत सन्नप्रसत्यग्राहीता, समता, शान्ति, सौहार्द, दया, परोपकारिता, आत्मविश्वास, सच्चा ज्ञान, सदाचार, समन्वय, एकता, अहिंसा, क्षमा, सहिष्णुता, सन्तोष, सादा जीवन उच्च विचार, सहजता-सरलता, प्रमाणिकता, कर्तव्यनिष्ठा, आध्यात्मिकता आदि आते हैं। स्वयं के भाव पवित्र है कि नहीं उसके लिए प्रायोगिक मापदण्ड हैं —

1. दूसरों के प्रति स्वयं का भाव पवित्र होना।
2. भाव में संकलेश (तनाव, राग, द्वेष, ईर्ष्या, तृष्णा, मोह, माया, अहंकार, दीनता, संचलता आदि) नहीं होना।
3. साम्य-शान्ति-तृप्ति-संतुष्टि का अनुभव होना।
4. किसी भी कारणों से निर्दोष जीवों को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमत से क्षति नहीं पहुँचाना।
5. गुणीजन गुरुजन के प्रति नम्रता — प्रमोद — सेवाभाव होना।
6. दुःखी, रोगी, असहाय के प्रति कृपा — दया — सेवा — सहयोग का भाव होना।
7. स्वयं के प्रति विपरीत भाव एवं व्यवहार करने वालों के प्रति भी माध्यस्थ भाव रखना।
8. स्वयं के दोष एवं कमियों को दूर करना।
9. दूसरों के दोष एवं कमियों को स्वीकार नहीं करना अपितु उससे शिक्षा ग्रहण करना एवं स्वकमियों को दूर करना तथापि दोषों,

कमियों से युक्त जीवों का नाजायज/अन्यायपूर्ण लाभ नहीं उठाना, उन्हें अन्यायपूर्ण उपायों से कष्ट नहीं देना।

10. जितना संभव हो दूसरों का उपकार करना नहीं तो कम से कम तो अपकार करना ही नहीं।
11. दिखावा के लिए कुछ भी न करके केवल स्वयं को पवित्र, श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, सफल, शान्त बनाने के लिए शिक्षा, सेवा, दान, परोपकार, धर्म, ज्ञान, तप, त्याग आदि करना।

जब आप दूसरों के प्रति अच्छे होते हैं तब आप अपने प्रति खुद—ब—खुद अच्छे हो जाते हैं।
(बैंजामिन फ्रैंकलिन)

शब्द से नहीं व्यवहार से दिल जीता जाता है।
(एलबर्ट हवार्ड)

मैं स्वयं बाल्यकाल से उपर्युक्त सुभावना को अधिक से अधिक भा रहा हूँ। तदनुकूल लेखन, प्रवचन, कार्य भी कर रहा हूँ। जिसके कारण देश—विदेशों के दिगम्बर, श्वेताम्बर जैन, अजैन पवित्र विचार वाले सज्जन जुड़ रहे हैं और इसके प्रचार—प्रसार में प्रयत्नशील हैं। एतदर्थ मैंने (1) तत्त्वानुचिन्तन (2) विभिन्न क्रम विकासवाद एवं परम आध्यात्मिक विकासवाद (3) उठो ! जागो ! प्राप्त करो आदि कृति भी रचना की है।

अन्तरंग - सफलता के मूल

आचार्य कनकनन्दी जी

जो शान्ति शिक्षा, सम्पत्ति प्रसिद्धि, धार्मिक क्रिया—काण्ड, तीर्थ—यात्रा, पूजा—पाठ आदि से नहीं मिलती वही शान्ति या उससे भी अधिक शान्ति समता, संतोष, पवित्रता, प्रमाणिकता, कर्तव्यनिष्ठा, सहज, सरलता, क्षमा, नप्रता, परोपकारिता, दान, सेवा आदि से मिलती है। अतः समता से लेकर सेवा आदि से ही यथार्थ से सफलता मिलती है। क्योंकि इसके बिना धनी से लेकर सम्राट तक को शान्ति नहीं मिलती है।

अयोग्य - शिष्य - श्रोता

सेलघण—भग्गघड—अहि—चालणि—महिसाऽवि जाहव सुएहि।
मट्टिय—मसय—समाण वक्खाणइ जो सुदं मोहा (62)
दढ—गारव—पडिबद्धो विसयामिस—विस—वसेण घुम्मतो।
सो भट्ट—बोहि—लाहो भमइ चिरं भव—वणे मूढो (63) धवला

(1) शैलघन (2) भग्नघट (3) अहि (सर्प) (4) चालनी (5) महिष (6) अवि (मेंढ़ा) (7) जाहक (जोंक) (8) शुक (9) माटी और (10) मशक के समान श्रोताओं को जो मोह से श्रुत का व्याख्यान करता है, वह मूढ़ दृढ़ रूप से ऋद्धि आदि तीनों प्रकार के गारवों के अधीन होकर विषयों की लोलुपतारूपी विष के वश से मूर्च्छित हो, बोहि। अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति से भ्रष्ट होकर भव—वन में चिरकाल तक परिभ्रमण करता है।

1. **शैलघन** :— शैल नाम पाषाण का है और घन नाम मेघ का है। जिस प्रकार पाषाण, मेघ के चिरकाल तक वर्षा करने पर भी आर्द्र या मृदु नहीं होता है, उसी प्रकार कुछ ऐसे भी श्रोता होते हैं, जिन्हें गुरुजन चिरकाल तक भी धर्मामृत के वर्षण या सिंचन द्वारा कोमल परिणामी नहीं बना सकते हैं ऐसे शिष्यों (श्रोताओं) को शैलघन शिष्य कहते हैं।

2. **भग्नघट** :— भग्नघट फूटे घड़े को कहते हैं। जिस प्रकार फूटे घड़े में ऊपर से भरा गया जल नीचे की ओर से निकल जाता है भीतर कुछ नहीं ठहरता है, इसी प्रकार जो उपदेश को एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देते हैं उन्हें भग्नघट शिष्य कहते हैं।

3. **अहि (सर्प)** :— अहि नाम साँप का है। जिस प्रकार मिश्रि मिश्रित दुर्घ के पान करने पर भी सर्प विष का ही वमन करता है, उसी प्रकार जो सुन्दर, मधुर और हितकर उपदेश के सुनने पर भी विष वमन करते हैं अर्थात् प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें अहि समान शिष्य समझना चाहिए।

4. **चालनी** :— चालनी जैसे उत्तम आटे को नीचे गिरा देती है और भूसा या चोकर को अपने भीतर रख लेती है, इसी प्रकार जो उत्तम सारयुक्त उपदेश को तो बाहर निकाल देते हैं और निःसार तत्त्व को

धारण करते हैं वे चालनी समान शिष्य, श्रोता है।

5. महिषा :— महिषा अर्थ भैंसा जिस प्रकार जलाशय से जल तो कम पीता है परन्तु बार-बार छुबकी लगाकर उसे गंदला कर देता है, उसी प्रकार जो श्रोता, शिष्य सभा में उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर प्रसंग पाकर क्षोभ या उद्वेग उत्पन्न कर देते हैं वे महिषा समान श्रोता शिष्य हैं।

6. अवि :— अवि नाम मेष (मेढ़ा) का है। जैसे मेढ़ा पालने वाले को ही मारता है, उसी प्रकार जो उपदेशदाता की ही निंदा करते हैं और समय आने पर घात तक करने को उद्यत रहते हैं उन्हें अवि के समान शिष्य समझना चाहिये।

7. जाहक :— जाहक नाम सेही आदि अनेक जीवों का है पर प्रकृत में जोंक अर्थ ग्रहण किया है। जैसे जोंक को स्तन पर भी लगावें तो भी वह दूध न पीकर खून ही पीती है, इसी प्रकार जो उत्तम आचार्य या गुरु के पास रहकर भी उत्तम तत्त्व को ग्रहण नहीं करते, पर अधम तत्त्व को ही ग्रहण करते हैं वे जोंक के समान श्रोता (शिष्य) हैं।

8. शुक :— शुक नाम तोते का है। तोते को जो कुछ सिखाया जाता है वह सीख तो जाता है पर उसे यथार्थ अर्थ प्रतिभासित नहीं होता, उसी प्रकार उपदेश स्मरण कर लेने पर भी जिनके हृदय में भाव भासना नहीं होती है वे शुक समान शिष्य हैं।

9. मिट्ठी :— मिट्ठी जैसे जल के संयोग मिलने पर तो मृदु जो जाती है, पर जल के अभाव में पुनः कठोर हो जाती है, इसी प्रकार जो उपदेश मिलने तक तो मृदु परिणामी बने रहते हैं और बाद में पूर्ववत् ही कठोर हृदय हो जाते हैं वे मिट्ठी के समान शिष्य हैं।

10. मशक :— मशक अर्थात् मच्छर पहले कानों में आकर गुनगुनाता है, चरणों में गिराता है किन्तु अवसर पाते ही काट खाता है, उसी प्रकार जो श्रोता, शिष्य पहले तो गुरु या उपदेशदाता की प्रशंसा करेंगे, चरण-वन्दना भी करेंगे, पर अवसर आते ही काटे बिना नहीं रहेंगे उन्हें मशक के समान श्रोता, शिष्य समझना चाहिये।

उक्त सभी प्रकार के श्रोता, शिष्य अयोग्य हैं, उन्हें उपदेश देना व्यर्थ है। (ध्वला I पृष्ठ 69-70)

—परिशिष्ट—

भारत के घर-गली की वधशाला यातनागृह बन्द हो

— आचार्य कनकनन्दी जी

जिस देश में “जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरियसी” “यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता” की नीति प्राचीनकाल से प्रचलित है आज-कल उस देश में स्वयं जननी से लेकर जनक परिवार, समाज आदि भी नारी की निर्मम हत्या गर्भ से लेकर गृह-गली में कर रहे हैं। जिस भारत में केवल नारी जननी, बहिन, पुत्री, कुलवधु, पत्नि, सास, दादी, नानी आदि रूप से सम्मानीय ही नहीं है अपितु विद्या को सरस्वती, धन-सम्पत्ति को लक्ष्मी, दुष्ट संहारणी को दुर्गा आदि नारी रूप में स्वीकार करके मन्दिर मूर्ति बनाकर पूजी जाती है, कन्या पूजा होता है तथा जन्म स्थल को जन्मभूमि, स्वभाषा को मातृभाषा कह कर आदर-बहुमान-सम्मान दिया जाता है उस देश में जीवन्त देवी रूपा नारी की दुर्दशा, हत्या (गर्भस्थ शिशुहत्या से लेकर दहेज हत्या, बलात्कार तथा हत्या) घर-गली में ही रही है। जिस जैन धर्म में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव ने ज्येष्ठ पुत्र भरत आदि को पहले शिक्षा प्रदान न करके पुत्री ब्राह्मी-सुन्दरी को अक्षर-अंक की शिक्षा देने के कारण आदि लिपि ब्राह्मी हुई तथा बाद में दोनों बहिनों ने केवली भगवान् से दीक्षा लेकर साध्वी बनकर नारी के श्रेष्ठ स्थान पूजनीय स्थान को प्राप्त किया और अभी भी साध्वी, गणनी, क्षुलिलिका आदि रूप में पूजी जाती है। आज-कल उस जैन धर्म में भी नारी की दुर्दशा कुछ कम नहीं है। पिछली जनगणनानुसार लिंगानुपात के अध्ययन से इसका स्पष्ट परिज्ञान हो जाता है। यथा—

पहला तथ्य : शिशु लिंगानुपात पिछले 40 सालों में काफी गिरावट की ओर अग्रसर है। हमारे देश में 0-6 वर्ष के आयु वर्ग में वर्ष 1961 में 1000 लड़कों पर 976 लड़कियां थी। इसमें लगातार गिरावट जारी रही। 1971 में यह आंकड़ा 964, 1981 में 962, 1991 में 945 था और 2001 में तो 927 पर पहुंच गया।

दूसरा तथ्य : ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में लिंग चयन ज्यादा किया जा रहा है। आंकड़े दर्शाते हैं कि ग्रामीण

क्षेत्रों में 1000 लड़कों पर 946 लड़कियां थीं, जबकि शहरी क्षेत्रों में यह संख्या 900 ही थीं।

तीसरा तथ्य : शिक्षित परिवारों में अशिक्षित परिवारों की अपेक्षा गर्भपात के आंकड़े अधिक रहे। स्नातक और इससे ऊपर शिक्षित महिलाओं द्वारा जन्म दिए 1000 बच्चों में से बालिकाओं की संख्या 876 ही रही, जबकि अशिक्षित या अल्प शिक्षित महिलाओं में यह संख्या 920 रही।

चौथा तथ्य : धार्मिक दृष्टि से देखा जाए तो ईसाइयों की स्थिति सबसे अच्छी है। ईसाइयों में 1000 लड़कों में से 964 लड़कियां, मुस्लिमों में 950, बौद्धों में 942, हिन्दुओं में 925 और जैनियों में यह संख्या 870 है। सबसे बुरी स्थिति सिखों की है जहाँ यह अनुपात 786 का ही था।

पांचवां तथ्य : राष्ट्रीय औसत और राज्य व केन्द्रशासित प्रदेशों के आंकड़े भी आंखे खोलने वाले हैं। वर्ष 2001 में लिंग अनुपात का राष्ट्रीय औसत 1000 : 927 था, जबकि महाराष्ट्र में यह अनुपात 913, राजस्थान में 906, हिमाचल प्रदेश में 897, गुजरात में 878, दिल्ली में 863, हरियाणा में 820, पंजाब में 793 था। चंडीगढ़ में यह अनुपात 745 का रहा, जो सबसे कम है।

छठा तथ्य : विश्व के सबसे अधिक जनसंख्या वाले दस देशों में भारत की स्थिति काफी दयनीय रही। संयुक्त राष्ट्र सचिवालय के आर्थिक व सामाजिक मामलों के विभाग के जनसंख्या प्रभाग द्वारा वर्ष 2009 के आंकड़ों के अनुसार, रूस में 1000 लड़कों पर 1164, जापान में 1053, ब्राजील में 1031, अमरीका में 1023, इंडोनेशिया में 1003, नाइजीरिया में 995, बांगलादेश में 978 और पाकिस्तान में 942 लड़किया थीं। भारत में यह अनुपात 936 का था। चीन प्रति हजार लड़कों पर 927 लड़कियों की संख्या के साथ सबसे नीचे पायदान पर था।

इतना ही पर्याप्त नहीं है। एक स्वयंसेवी संगठन सेव द चिल्ड्रन ने माताओं की स्थिति का सर्वे करते हुए एक रिपोर्ट कुछ ही दिन पहले जारी की है। माँ बनने के अनुकूल परिप्रेक्ष्य में मध्य आय वर्ग के 77 देशों में भारत का स्थान 73 वां है। दूसरे शब्दों में कहा

जाए, तो माँ बनने के लिए भारत सुरक्षित जगत नहीं है। पांच साल से कम उम्र के बच्चों और उन्हें जन्म देने वाली माताओं की कुल मौतों की दो तिहाई संख्या अकेले भारत की हैं।

आज भारत में हर रोज बलात्कार के 41 अपराध दर्ज होते हैं, 19 महिलाओं के दहेज—मृत्यु कारित होते हैं, 31 का अपहरण होता है, 113 यौन उत्पीड़न की शिकार होती है, 84 से छेड़छाड़ की जाती है। नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार इस 21 वीं सदी में भी हर 102 मिनट में दहेज के लिए एक महिला की हत्या हो रही है, हर 54 मिनट में एक बलात्कार, 34 मिनट में एक उत्पीड़न व 7 मिनट में महिला के विरुद्ध एक अपराध हो रहा है। महिलाओं के साथ होने वाले अपराधों की संख्या सालाना दो लाख पहुँच गई है। आधिकारिक आंकड़े बताते हैं कि देश के किसी न किसी कोने में हर घंटे एक युवा विवाहिता को या तो मार दिया जाता है या उसे मौत की तरफ धकेल दिया जाता है। दहेज मृत्यु का सालाना आंकड़ा 9000 के भी पार है जो एक दशक पहले 2000 था। उत्पीड़न का यह सिलसिला लगातार तेजी से बढ़ता जा रहा है।

उपरोक्त कुकृत्यों के लिये पुरुष जितना उत्तरदायी उससे कुछ नारी कम नहीं है। आज स्वयं नारी स्वयं की प्रगतिशील, बोल्ड, समानाधिकार, स्मार्ट, ब्युटिफुल, आधुनिक, अपटुडेट, आत्मनिर्भरशील आदि के बहाने जो कुछ भाव—व्यवहार कर रही है वह स्वयं के लिये, अन्य नारी के लिये, समाज आदि के लिए उपरोक्त कुकृत्यों को कर रही है, करवा रही है, अनुमति दे रही है। इसके साथ—साथ संस्कार—सदाचार—नीति—आध्यात्मिकता से रहित शिक्षा, सिनेमा, टी.वी. के द्वारा परोसे जा रहे अनैतिक—अश्लील प्रोग्राम का प्रभाव, पाश्चात्य अपसंस्कृति का अंधानुकरण, अशुद्ध—अयोग्य खान—पान, व्यक्तिगत—पारिवारिक—सामाजिक—राष्ट्रीय चारित्र का पतन एवं विघटन, अन्यथा तथा ढीला कानून, राजतंत्र में नीति का अभाव अनैतिक रूप से धन एवं सुख प्राप्त करने की लालसा आध्यात्मिक जागृति का अभाव आदि उत्तरदायी हैं। इन सब कुकृत्यों के अन्तर्गत—बहिरंग कारणों को दूर करके ही इन सब (कुकृत्यों) को दूर कर सकते हैं। अन्यथा केवल कानून बनाकर, रटन्त शिक्षा प्रदान कर, पुलिस के भरोसे उपर्युक्त कुकृत्यों को दूर नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार

रुद्धिवादी धर्म—धर्मात्मा—प्रवचनकार आदि से भी समाधान संभव नहीं है।

माता की ममतामय सुरक्षित कोख ही जब निर्मम — क्रूर — हत्यारा वधशाला बन रही है, परिवार के लोग ही हत्यारे हैं तब पशुवधशाला को कैसे रोका जा सकता है ?

माता यदि विषं दद्यात् पिता विक्रियते सुतः ।

राजा हरति सर्वस्व का तत्र परिवेदना ॥

अर्थात् यदि माता ही पुत्र—पुत्री को विष देती है, पिता पुत्र—पुत्री को विक्रिय करता है और राजा सर्वस्व हरण करता है तो ऐसी परिस्थिति में रोना व्यर्थ है। क्योंकि रक्षक ही भक्षक है तो कौन रक्षा करेगा। यह प्रकरण 'शेनशुप' का है। शेनशुप एक ब्राह्मण लड़का था, जिसे माता—पिता ने राजा को बलि देने के लिये बेच दिया था। यह सच्ची घटना हो या काल्पनिक—मिथ्या। किन्तु अभी के सन्दर्भ में तो यह वास्तविक है। अनुसंधान से सिद्ध हो चुका है कि उपर्युक्त अधिकांश कुकृत्य परिवारजन, पड़ोसी, जान पहिचान के लोग, रिश्तेदार, ग्राम—समाज—नगर के लोग, पुलिस से लेकर सरकार तक के द्वारा आयोजित — प्रायोजित होते हैं। ऐसे कुकृत्यों के कारण रोमन साम्राज्य, मयसम्भृता, लंका का साम्राज्य आदि लोप हो गये जो कि भौतिक—सैनिक—शैक्षणिक—कला—कौशल आदि में भी सम्पन्न थे। इससे सिद्ध होता है कि नैतिकता — आध्यात्मिकता के बिना केवल शिक्षा, सत्ता, सम्पत्ति, कानून, पुलिस आदि के बल पर कुकृत्यों को दूर करना संभव नहीं है। क्योंकि प्राचीनकाल से अभी तक देश विदेशों के अधिकांश कुकृत्य सत्ता—सम्पत्ति—बुद्धि—शिक्षा सम्पन्न व्यक्तियों के द्वारा आयोजित—प्रायोजित होते हैं। इस लेख में दिये गये आंकड़े भी यह ही सिद्ध करते हैं तथा महान् नीति—राजनीति, दण्डनीति—अर्थशास्त्र के प्रणेता चाणक्य ने भी कहा है —

यौवनं धनं — सम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकता ।

एकैकमपि अनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

(1) यौवन (2) धन—सम्पत्ति (3) प्रभुत्व (4) अविवेकता में से एक—एक भी अनर्थ के लिए कारण है तो जहाँ चारों कारण विद्यमान हैं वहाँ कहना ही क्या ? वहाँ अनर्थ ही अनर्थ संभव है। अतएव पुरुषों

को केवल बाह्यरूप से नारी के पूजन—सम्मान अधिकार की चर्चा ही न करके भाव एवं व्यवहार से भी करें तथा नारी भी अपनी बाह्य शिक्षा, अन्धी आधुनिकता—सुन्दरता, नौकरी प्रतिस्पर्द्धा आदि को ही महत्व न देकर ममता—सेवा—मर्यादा—शालीनता आदि को भी महत्व दे/स्वीकार करें तो उपरोक्त कुकृत्य दूर होंगे।

प्रस्तुत प्रकरण से तथा इस कृति में वर्णित पूर्वोक्त 16 प्रकरणों से सिद्ध होता है कि जब तक भाव व्यवहार में पवित्रता, उदारता, आदर्श, समता, सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा, दया, परोपकारिता, सेवा, सहयोग, कर्तव्यनिष्ठा, प्रामणिकता, संतोष, अहिंसा, क्षमा, सरल — सहजता, सादा जीवन उच्च विचार, आध्यात्मिकता आदि सद्गुणों का समावेश नहीं किया जाता है तब तक केवल बाह्य, शिक्षा, कानून, पुलिस, सरकार, संविधान, आधुनिकता, प्रगतिशीलता, कालदोष, बाह्य धर्म आदि से ही स्व—पर—विश्व—कल्याण सम्भव नहीं हैं जबकि अधिकांश आम जनता से लेकर सरकार तक की धारणा है कि बाह्य शिक्षा, आर्थिक विकास, कानून, पुलिस आदि से संभव हैं।

या देवी सर्वभूतेषु मातृ रूपेण संस्थिता ।

नमतस्यै नमतस्यै नमतस्यै नमो नमः ।

जीवनोपयोगी सामान्यज्ञान (G.K.) ढी असाधारण ज्ञान -

सामान्यज्ञान (G.K.) में क्यों कमजोर होते जा रहे हैं भारतीय ?

आचार्य कनकनन्दी

नेशनल हाइजीन काउंसिल के एक सर्वे में खुलासा हुआ है कि 60 फीसदी लोग हाथ साफ करने के सही वक्त और सही तौर—तरीकों को नहीं जानते। यही वजह कि तकरीबन 70 फीसदी बच्चे भी हाथ साफ करने को लेकर गंभीर नहीं होते। सर्वे में यह भी सामने आया है कि 48 फीसदी लोगों को यह भी जानकारी नहीं होती कि मोबाइल, बेसिक टेलिफोन, कम्प्यूटर की—बोर्ड, और दरवाजों के डैल के जरिए भी कीटाणु फैलते हैं। जबकि 58 फीसदी लोग खांसने, छींकने के बाद कभी हाथ नहीं धोते।

यह सर्वे मेरे लिए न कोई नया विषय है न ही अविश्वसनीय विषय है। हाँ यह विषय मेरे लिए अवश्य आश्चर्यकर एवं दुःखद है। जब मैंने ग्राम से लेकर नगर के भी लाखों साक्षरी—शिक्षित, विद्यार्थी, शिक्षक, विद्वान्, आधुनिक, धार्मिकजनों में उपरोक्त कमियाँ तथा इससे भी अधिक कमियाँ को अनुभव किया तब मैंने 1988 में (1) धर्म एवं स्वास्थ्य विज्ञान (भाग I, II), 1992 में (2) आदर्श विचार — आहार — विहार 1999 में (3) नैतिक शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान, 2006 में (4) शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य के विविध आयाम आदि कृतियों की रचना की है। कक्षा, शिविर आदि में इस सम्बन्धी ज्ञान लाखों सामान्यजनों से लेकर विद्वान्, साधु—साधियों को दे रहा हूँ। तथापि मुझे अत्यन्त दयात्मक पीड़ा होती है कि अधिकांश लोग इन सब विषयों को न जानते हैं, न ही सुनना — जानना चाहते हैं, न ही अपनाते हैं। इन सब विषयों को अनावश्यक, महत्वविहीन मानते हैं। इन सब विषयों को स्वास्थ्य शिक्षा, ज्ञान, धर्म, सदाचार दैनिक कर्तव्य, सामान्यज्ञान (G.K.) तक से परे अर्थात् फालतु मानते हैं। जबकि यथार्थ से शिक्षा से लेकर G.K. का प्राथमिक महत्वपूर्ण पाठ यह ही है। समस्त लौकिक—धार्मिक शिक्षा/संस्कार के पहले इन सब विषयों का ज्ञान परिवार जन, शिक्षण संस्थान, धार्मिक साधु—साधी प्रचारकों से लेकर नर्स, वैद्य, डॉक्टर, स्वास्थ्य विभाग, सरकार आदि को सीखना चाहिए, प्रयोग में लाना चाहिए, सिखाना — प्रचार — प्रसार करना चाहिए। भारतीय प्राचीन आयुर्वेद, दैनिक कार्य, धार्मिक कार्य में इन सब विषयों को प्राथमिकता दी गई है। जैन धर्म के 4 अनुयोगों में से चरणानुयोग में सर्वप्रथम इन सब का वर्णन है। यथा — गणधर देव ने तीर्थकर परमदेव से प्रश्न किया था कि

हे भगवान् ! किस प्रकार आहार — विहार — विचार करने से पाप बंध नहीं होगा ? तीर्थकर परमदेव ने कहा था कि समीचीन आहार — विहार — विचार करने से पाप बंध नहीं होता है। उनका प्रश्न — उत्तर निम्न प्रकार है।

कधं चरे कधं चिद्दे कधमासे कथं सये ।

कधं भुजेज्ज भासिज्ज कधं पाव ण बज्जादि ॥ (1014) मूलाचार हे भगवान् ! कैसा आचरण करें, कैसे ठहरें, कैसे बैठें, कैसे सोचें, कैसे

भोजन करें एवं किस प्रकार बोलें कि, जिससे पाप से पाप — बंध नहीं हो ?

आदर्श जीवन चर्या :-

जदं चरे जदं चिद्दे जदमासे जदं सये ।

जदं भुजेज्ज भासे एवं पाव ण बज्जाइं ॥ (1015)

यत्नपूर्वक गमन करें, यत्नपूर्वक खडे हों, यत्नपूर्वक बैठें, यत्नपूर्वक सोचें, यत्नपूर्वक आहार करें और यत्नपूर्वक बोलें, इस तरह करने से पाप का बंध नहीं होगा ।

जदं तु चरमाणस्स दयावेहुस्स भिक्खुणो ।

णवं ण बज्जादे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥ (1016)

यत्नपूर्वक चलते हुए दया से जीवों को देखने वाले साधु के नूतन कर्म नहीं बंधते हैं और पुराने कर्म झड़ जाते हैं। साधारणतः जीव भोजन के कारण, असम्यक् प्रवृत्ति के कारण, अयत्न पूर्वक उठने, बैठने, बोलने के कारण पाप कर्म को बांधता है परन्तु वही कार्य यदि सावधानी पूर्वक विवेक सहित जीवों की रक्षा करते हुए करता है तो पाप बंध कम होता है। नारायण कृष्ण ने भी गीता में कहा है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वन्जबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

जो मनुष्य आहार—विहार में दूसरे कार्मों में, सोने जागने में परिमित रहता है, उसका योग दुःख भंजन हो जाता है।

नात्यशनतस्तु योगेऽस्ति न चैकान्तमनश्यतः ।

न चाति स्वनशीलस्य जाग्रता नैव चार्जुन ॥

हे अर्जुन ! यह समत्वरूप योग न तो ठूंसकर खाने वाले को, न उपवासी को, वैसे ही, वह बहुत सोने वाले को बहुत जागने वाले को भी प्राप्त नहीं होता ।

युक्त आहार—विचार—उच्चार आदि से केवल हमारा परलोक ही सुखमय नहीं बनता परन्तु वर्तमान जीवन भी सुखमय बनता है। क्योंकि योग्य आहार—विहार से न मानसिक रोग होता है, न शारीरिक रोग होता है। इसके साथ—साथ उसको समाज में परिवार में आदर भी मिलता है। इसके विपरीत असम्यक् आहार — विहार करने वाला

व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ रहता है। इसका जीवन भार स्वरूप हो जाता है। वह न स्वाभिमान से जी सकता है और न गौरवमय बन सकता है। आधुनिक चिकित्सा – मनोविज्ञान में सिद्ध किया गया है कि अयोग्य आचार – विचार से अनेक मानसिक रोग हो जाते हैं, जिसके कारण अनेक शारीरिक रोग भी हो जाते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार अनेक शारीरिक रोगों के मूल कारण मानसिक रोग ही हैं। यह आधुनिक मनोविज्ञान का सिद्धान्त भारतीयों के लिए नवीन नहीं है। परन्तु यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन एवं अतिपरिचित भी है। आधुनिक चिकित्सा की विभिन्न शाखाएँ एवं उपशाखाएँ भारतीय जन–जीवन में धार्मिक शास्त्र में, धार्मिक क्रियाकाण्डों में एवं आयुर्वेद में यत्र–तत्र बिखरी पड़ी हुई हैं। निम्न में एक आयुर्वेद का सूत्र प्रस्तुत कर रहा हूँ –

नित्यं हिताहार विहार समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।

दाता समः सत्य परः क्षमावनाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥ (अष्टांग 36)

जो सतत हितकर आहार, योग्य विहार करता है, विवेकपूर्वक परिणाम से विचार करके प्रत्येक कार्य करता है, पंचेन्द्रियजनित विषय में आसक्त नहीं होता है, यथायोग्य पात्र को यथायोग्य दान देता है, लाभ–अलाभ, शत्रु–मित्र में समता भाव धारण करता है। सत्यग्राही, क्षमावान्, देव–शास्त्र–गुरु, गुणीजन–वृद्धजनों की सेवा करता है, वह निरोग होता है।

उपरोक्त सर्वे के अतिरिक्त भी अधिकांश भारतीयों में और भी अधिक विषयों में अधिक मात्रा में कमियाँ हैं। उनमें से कुछ कमियाँ निम्नोक्त हैं।

1. भोजन के पहले एवं बाद में हाथ पैर नहीं धोना एवं कुल्ला नहीं करना। व्यवस्थित क्रमबद्ध आयुर्वेद के नियमानुसार भोजन करना तथा विधि के अनुसार साधुओं को आहार देना भी नहीं जानते हैं।
2. अहिंसक गुणकारी नीम, बबूल आदि दन्तवन से मुख–दन्त–जिह्वा शुद्धि न करके मिट्ठी, राख तथा अहिंसकारी – हिंसात्मक ब्रश – टूथपेस्ट आदि से करना।
3. सुट, बुट, टाई पहनकर भी शौच जाना, सही रूप से गुदा (मलद्वार) एवं हाथ शुद्ध – स्वच्छ नहीं करना, उस ही पोशाक से भोजन आदि

करना।

4. नाखून लम्बे रखना, नेल पॉलिश, लिपस्टिक लगाना, नाखून साफ नहीं रखना तथा ऐसे परिस्थितियों में भी भोजन करना एवं साधुओं को आहार देना।
5. घर – दुकान – कार्यालय – फैक्ट्री, ग्राम – नगर आदि की गन्दगी रास्ता, रोड, जलाशय, नदी आदि में डालना। ऐसा ही थूक, जूठन, फल के छिलके, कचरा, पान के पीक, तम्बाकू – बिड़ी, सिगरेट – मद्य आदि के अपशिष्ट जहाँ–तहाँ फैंकना।
6. किसी भी कार्य (शिक्षा, दैनिक कार्य, यातायात, सामाजिक – धार्मिक – प्रशासनिक, कानूनी, राजनैतिक कार्य आदि) को क्रमबद्ध, अनुशासित, समयानुसार, प्रामाणिकता, कर्तव्यनिष्ठा, ध्यानपूर्वक, लघिसहित, स्वेच्छा से नहीं करते हैं। अनावश्यक रूप में समय का दुरुपयोग, गप्पबाजी, आलस्य–प्रमाद, इधर–उधर देखना, किसी भी सामूहिक कार्य आदि के लिए मीटिंग के लिए भी मीटिंग; मीटिंग में भी गप्पबाजी, वाद–विवाद–विरोध आदि करते हैं तथा समयाभाव बताकर स्वयं को महत्वपूर्ण सिद्ध करते हैं। जो नियम बनाते हैं या जिस कार्य के लिए वचन देते हैं उसका भी पालन नहीं करते हैं।
7. किसी भी विषय का प्राथमिक ज्ञान नहीं करते हैं जिसके कारण उस सम्बन्धी विशेष ज्ञान भी नहीं कर पाते हैं जिससे उस कार्य को व्यवस्थित, क्रमबद्ध, अनुशासित, समयानुकूल भी नहीं कर पाते हैं। किसी भी प्रकार सूचना तक को न ध्यानपूर्वक, गंभीरता से सुनते हैं, न ही पढ़ते हैं, न ही उसके अनुसार कार्य करते हैं। अस्थिरता / अन्यमनस्कता, तुच्छता, फूहड़पना भी भारतीयों की कमजोरी है।
8. सामूहिक, सामाजिक, राष्ट्रीय – स्थल, जमीन, गृह, कार्यालय, रेल – बस, विद्यालय का दुरुपयोग करना, गन्दा करना, अतिक्रमण – कब्जा करना, तोड़फोड़ करना, जलाना। यह सब विरोध प्रदर्शन करने के लिए और भी अधिक करते हैं जिससे निर्दोष नागरिकों को भी बाधा पहुँचती है, क्षति पहुँचती है।
9. सच्चे – अच्छे नियम – कानून – अनुशासन आदि को नहीं मानना, उसका उल्लंघन करना या पूर्ण विपरीत चलना अपना अधिकार/कर्तव्य/आजादी/गौरव मानते हैं।

10. अकल के बिना अहितकारी, अनुपयोगी, अनावश्यक, अशालीन, अमर्यादित वेश — भूषा, खान — पान, भाषा, परम्परा, फैशन, व्यसन आदि का नकल/अन्धानुकरण करना और इससे स्वयं को आधुनिक, प्रगतिशील, शिक्षित, सभ्य, सम्पन्न सिद्ध करना।

11. मातृभाषा, राष्ट्रीय भाषा को भी शुद्ध न बोल पाते हैं, न पढ़ पाते हैं, न ही लिख पाते हैं तो भी मातृभाषा से अनभिज्ञ अबोध शिशु (2 से 2.5 वर्ष) को भी अंग्रेजी से पढ़ते हैं, बोलने के लिए बाध्य करते हैं अन्यथा दण्डित करते हैं। ऐसा ही भारत की महान् आध्यात्मिक संस्कृति, ज्ञान—विज्ञान, इतिहास, पुराण, महापुरुषों के बारे में कम पढ़ाया जाता है तथा भारत को गुलाम शोषण करने वालों के बारे में अनावश्यक, अनुपयोगी, असत्य/काल्पनिक/भ्रमपूर्ण/अपूर्ण सत्य के बारे में भी निम्न कक्षा से लेकर उच्चतम् कक्षा में पढ़ाया जाता है। ऐसा ही हिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी माध्यम वाले विद्यालयों में भी हिन्दी संख्या नहीं पढ़ाया जाना।

12. जीवन के हर समय हर क्षेत्र में प्रयोग में आने योग्य विषय ही यथार्थ से सामान्यज्ञान है जिससे स्व—पर का जीवन सुख—शान्तिमय जो, प्रगति हो, सुव्यवस्थित हो परन्तु कुछ ऐतिहासिक, भौगोलिक, वर्तमान के व्यक्ति, दिन, स्थल, घटना आदि को सामान्य ज्ञान मानना।

13. धार्मिक क्षेत्र में भी यथार्थ धर्म स्वरूप सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, नम्रता, सहजता—सरलता, पवित्रता, संयम, आत्मानुशासन, समता, ध्यान, शान्ति, सेवा, प्रेम, एकता, कर्तव्यनिष्ठा, प्रामाणिकता, सादा जीवन — उच्च विचार, आध्यात्मिकता आदि को कम महत्व देना, केवल बाह्य क्रिया — काण्ड, रीति — रिवाज, पूजा — पाठ, पर्व — उत्सव, परम्परा आदि को अनावश्यक अति महत्व देना।

14. सर्वांगीण विकास स्वरूप शिक्षा को प्रायः महत्व नहीं देकर केवल रटन्त शिक्षा को महत्व देना जिससे डिग्री प्राप्त हो।

15. अधिकांश भारतीयों में स्व—पुरुषार्थ, स्व—मौलिक सोच/ज्ञान/अनुभव नहीं होने के कारण भारत के संविधान, कानून, विज्ञान, यंत्र, खोज, उपकरण, लेख, साहित्य, कविता, नृत्य, गाना, भाषा, शब्द,

वेश—भूषा, शिक्षा, रीति—रिवाज, लाइफस्टाइल, श्रृंगार, श्रृंगार की वस्तु (फैशन एवं फैशन की चीज), खान—पान, मनोरञ्जन, फ़िल्म, फैशन शो, रियलिटी शो, विज्ञापन आदि विदेशों के नकल से चल रहे हैं/ढो रहे हैं। यह होना स्वाभाविक है क्योंकि नकल करने में प्रथमतः अकल एवं परिश्रम कम करना पड़ता है जो कि भारतीयों की मानसिकता—कमज़ोरी है; द्वितीयतः नकलचीपना को भारत के लोग शान—अभिमान मानते हैं; तृतीयतः इससे बाजार भी खूब चलता है, परिवर्तन में (बनिस्बत) मौलिक ज्ञान — पुरुषार्थ — उपकरण आदि से। उदाहरण के तौर पर भारतीय कला — संगीत — नृत्य — नाटक आदि हर दृष्टि से (स्वास्थ्य — शिक्षा — संस्कृति — संस्कार आदि) उत्तम होने पर भी भारत की अनेक फ़िल्म विदेशी हॉलीवुड की फ़िल्मों के नकल हैं। यह होना स्वाभाविक है क्योंकि नकलची फ़िल्म लेखक की करोड़ और नकलची निर्देशक को 4 करोड़ का मेहनताना मिलता है। साथ ही साथ भारत के लोग ऐसी फ़िल्म को ज्यादा पसन्द करके देखते हैं जिससे कमाई भी अधिक होती है।

उपरोक्त कारणों से विश्वगुरु भारत स्वतंत्रता के बाद भी साक्षरता में वृद्धि होने पर भी उत्तरोत्तर अनैतिक, भ्रष्ट, अस्वच्छ, प्रदूषित, अप्रमाणिक, रोगी, कर्तव्यव्युत, अश्लील, कुशील, गरीब तथा ज्ञान — विज्ञान — विवेक — आध्यात्मिक नीति — नियम — सदाचार — सद्विचार — सन्तोष आदि से रहित होता जा रहा है। इन सब कमियों को दूर करके भारत को विश्वगुरु बनाने के लिए सामान्यज्ञान सदाचार से युक्त शिक्षा, आध्यात्मिकता से युक्त धर्म, विकासात्मक विज्ञान, शीघ्र न्यायदाता कानून, राष्ट्र सेवक राजनीति, सर्वोदयकारी संविधान तथा इन सबको मन—वचन—काय—कर्मणा पालन करने वाले हर नागरिक को होना आवश्यक है।

संस्कार और संस्कृति, शिक्षा की हो प्रकृति।

आत्मा की उन्नति, धर्म हो संस्कृति॥

विज्ञान की हो प्रवृत्ति, विश्व की उन्नति।

न्याय हो निर्विकारी, सर्वजीव हितकारी॥

ज्ञान हो विज्ञान हो, सामान्यज्ञान से पूर्ण हो।

होता है हितकारी, अन्यथा दुःखकारी॥

शिक्षा हो सर्वोदयी, डिग्री की सीमा नहीं।
 राज में हो नीति, अन्त्योदय की संस्कृति ॥

समता ही सदाचार, धर्म—नीति का आधार।
 विषमता है विकार, सर्वथा ही अहितकर ॥

समाज की है शक्ति, एकता से ही है आती।
 एकता की शक्ति, सच्चे प्रेम से ही आती ॥

आधुनिक भारतीयों के अन्तरंग

संक्षिप्ततः कहें तो अत्यन्त दुःखद प्रायोगिक सत्य यह है कि विश्वगुरु भारत के अधिकांश लोग (अशिक्षित से शिक्षितों की संच्चार अधिक) प्रायः संकीर्ण भौतिकवादी, स्वार्थपूर्ण, अपूर्ण, उथला, सम्बन्ध—संयोजना रहित, अनुदार, अपारदर्शी, तुच्छ, अनुभव रहित, असंतुलित, रुढ़िवादी, अवैज्ञानिक, आध्यात्मिकता से रहित भाव — व्यवहार कथन करते हैं। लाखों का मेरा अनुभव है कि उपर्युक्त विषयों से विपरीत सच्चाई एवं अच्छाई के लिए अधिकांश व्यक्ति न कुछ जानना चाहते हैं, न सुनना चाहते हैं, न करना चाहते हैं।

आचार्य कनकनन्दी जी

अन्तरंग - सफलता के मूल

आचार्य कनकनन्दी जी

1. शान्ति जीव का सर्वश्रेष्ठ—सर्वज्येष्ठ गुण/शक्ति/धर्म/स्वभाव होने से शान्ति हर जीव चाहता है तथा शान्ति सहित और सब कुछ रहित भी जीव सुख अनुभव करता है, किन्तु शान्ति रहित और सब कुछ सहित भी जीव सुख अनुभव नहीं करता है। अतः शान्ति ही सफलता — विकास है। और शान्ति रहित सब कुछ विफलता है, विनाशक है।
2. जो स्वयं को सफल, विकसित, अनुशासित, नियोजित, आदर्श, प्रमाणिक, कर्तव्यनिष्ठ, शान्त, योग्य, सदाचारी बना लिया वह अपनी तरफ से सब के लिए उपदेशक/मार्गदर्शक बना लिया।

आचार्य संघ द्वय का वात्सल्य मिलन (अनुशासन - अध्यापन की वेला में)

दुंगरपुर नगरी की पावन धरा पर प.पू.आचार्य प्रशान्तमूर्ति श्री विरागसागरजी (संसंघ) द्वारा दि. 1 मई 2010 को सायं 4.30 बजे ग्राम बस्सी में विराजित प. पू.वैज्ञानिक आचार्य भगवन्त श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव (संसंघ) को एक वात्सल्य निवेदन प्राप्त हुआ। निवेदनकर्ता दुंगरपुर जैन समाज के कुछ वरिष्ठ समाजजन थे। दि. 2 मई को प्रातः 8.30 बजे दोनों संघों का मिलन व सम्मेलन हुआ। करीब 22 वर्षों के पश्चात् आचार्य द्वय व श्रीसंघ के मिलाप का दृश्य देखकर नागरिकगण आनन्दानुभूति से झूम उठे। इसके पश्चात् विशाल सभा में आ.श्री विरागसागरजी के जन्म दिवस पर आचार्य कनकनन्दी जी (संसंघ) ने अपनी वात्सल्यमयी शुभकामनाएं व समाचार विधि से आ.श्री विरागसागरजी के विनयपूर्ण भाव व्यवहार से अभिभूत होकर उन्हें 'प्रशान्तमूर्ति' इस उपाधि से सत्कार किया, जिसका उपस्थित भक्तजनों ने करतल ध्वनि से अनुमोदना कर पुण्यलाभ प्राप्त किया।

उपरोक्त मिलन—अनुशासन व अध्यापन में तब विशेष उपलब्धि हुई, जब दोनों संघों की स्वाध्याय सभा को प.पू.शिक्षा मनोवैज्ञानिक आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव ने महान् आध्यात्मिक ग्रन्थराज 'समयसार' के माध्यम से वैज्ञानिक पद्धति से पढ़ाया व आधुनिक विज्ञान, प्राचीन आगम, सिद्धान्त, अनेकान्त, गणितीय पद्धति आदि विभिन्न विधाओं की समन्वयात्मक शैली को देखकर समस्त साधुओं आर्थिकाओं, श्रावक—श्राविकाओं में महान् हर्ष व आनन्द का सञ्चार कराया। आ. श्री विराग सागर जी ने यहाँ तक कहा कि हे गुरुदेव ! हम सभी संघ सहित आपके नेतृत्व में केशरियाजी चलकर ध्वला ग्रन्थ की वाचना करना चाहते हैं। गुरुदेव ने कहा कि — मैं पूरे भारत में भ्रमण करने के पश्चात् वर्तमान में भारत भूमि के स्वर्ग इस मेवाड़—बागड़ के केन्द्र में आ गया हूँ, एवं इस पुण्यधरा के माध्यम से माँ जिनवाणी की सेवा व वैश्विक जिनशासन को देश—विदेश, वि.वि. से विश्व धर्मसभा तक पहुँचाने में सफलता प्राप्त करता जा रहा हूँ, अतः इस महान् ज्ञानयज्ञ में सभी प्रगतिशील धार्मिकजनों से सहयोग की अपेक्षा करता हूँ। गुरुदेव ने क्रान्तिकारी नारा दिया — 'तुम मुझे सहयोग दो, मैं तुम्हें वैज्ञानिक धर्म दूँगा।' गुरुदेव की शिक्षा पद्धति से प्रभावित प्रो. श्री लक्ष्मीलाल जी ने सपलीक ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया एवं आचार्य श्री के सानिध्य में अध्ययन साधना करने का संकल्प किया। नगर में अच्छी ज्ञान प्रभावना हो रही है। सदाकांक्षाओं सह — मुनि सुविज्ञासागर

दिव्यात्मा के लिए दिव्य सम्बोधना एवं शुभकामनाएँ

— आचार्य कनकनन्दी

हमें दि. 9-5-2010 के अपराह्न प्रायः 4.15 बजे डॉ. प्रो. श्री सोहनराजजी तातेड़ द्वारा दूरभाष से सन्देश मिला कि आचार्य श्री महाप्रज्ञजी का देवलोक गमन आज 2 बजे के 10 मिनिट पर हुआ है। इसके पूर्व आचार्य महाप्रज्ञ जी ने सुख—साता पूर्वक 11 बजे भव्यात्माओं के लिए प्रवचन दिया, अनन्तर थोड़ा सा शारीरिक अस्वस्थता में आत्म—जागृति की अवस्था में समाधिमरण/स्वर्गारोहण हुआ। ऐसा दिव्य—आदर्श मरण उनके दिव्य—आदर्श भाव एवं व्यवहार को प्रदर्शित/व्यक्त करता है।

मैं उनके साहित्य—लेख प्रायः 28—30 वर्षों से अध्ययन कर रहा हूँ, अभी 4—6 वर्षों से आचार्य महाप्रज्ञ के आशीर्वाद / मार्गदर्शन / सानिध्य एवं मेरे आशीर्वाद/मार्गदर्शन/सानिध्य में तथा दोनों के शिष्य भक्त — अनुयायियों के सहयोग से जैन एकता, विश्वविद्यालयों में आचार्य कनकनन्दी साहित्य कक्षों की स्थापना तथा शोधकार्य, वैज्ञानिक संगोष्ठियाँ, तत्त्वचर्चा, साहित्यों का आदान — प्रदान, भक्त — शिष्यों का परस्पर सहयोग — समन्वय चल रहा है। इन सब के माध्यम से आचार्य महाप्रज्ञ की उदारता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, पवित्रता, सहज — सरलता, एकता, सहिष्णुता, पंथनिरपेक्षता, आधुनिकता, वैज्ञानिकता, प्रगतिशीलता, स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। ऐसी दिव्यात्मा का स्वर्गारोहण के अनन्तर मोक्षारोहण हो ऐसा सन्देश एवं शुभकामनाएँ हैं।

मेरी पवित्र—उदार भावना है कि जैसा कि आचार्य तुलसी के महान् कार्यों को आचार्य महाप्रज्ञ जी ने आगे बढ़ाया वैसा ही अन्य साधु सन्तवृन्द, अनुयायी भी करके उन्हें सच्ची—श्रद्धा अञ्जली अर्पण करें; ऐसी शुभकामनाओं के साथ—

आ. कनकनन्दी

दि. 9-5-2010 (रविवार)

झूंगपुर (राज.) प्रवास में

मानव की पाश्विक प्रवृत्तियों के कारण - परिणाम-निवारणोपाय

सुलभ-दुर्लभ के कारण - परिणामः

भावात्मक - मनोवैज्ञानिक - व्यवहारिक दृष्टि से
(भावात्मक विकृतियों की सुलभता: कारण—परिणाम—निवारणोपाय)

— आचार्य कनकनन्दी

सूक्ष्म निम्नस्तरीय कीट—पंतग, पशु—पक्षी से लेकर उच्च स्तरीय मनुष्य तक में आहार, निहार, निद्रा, भय, मैथुन, क्रोध, मान, माया, स्वार्थ, अनुदारता, संकीर्णता, लोभ—तृष्णा, दुःख से निवृत्ति, सुख प्राप्ति, प्रतिशोध, स्वरक्षा, आदि की प्रवृत्ति बिना प्रशिक्षण से भी सहजता से प्रचुर मात्रा में पायी जाती है, परन्तु इससे विपरीत आत्मकल्याण के कारणभूत हिताहित विवेक, समता, सहिष्णुता, परोपकारिता, निःस्वार्थपरता, सहज—सरलता, निर्लोभता, पुर—दुःखकातरता, क्षमा, पररक्षा, अहिंसा, नम्रता, सत्यनिष्ठा, उदारता, व्यापकता, शान्ति, सेवा—वैयावृत्ति, दान, दया आदि गुण प्रशिक्षण देने पर भी उच्चस्तरीय मानव तक कम ग्रहण कर पाते हैं। इन सबका सूक्ष्म, गहन अनुसंधान आधुनिक विज्ञान से भी अधिक हमारे प्राचीन तीर्थकर, आचार्य आदि ने किया है। यथा —

सुदपरिचिदाणमूदा सब्वेसिहिं काम भोग बन्ध कहा।

एयत्त सुहलंभ णवरि ण सुलह विहत्तस्स ॥ (समयसार)

संसार के प्रत्येक जीव अनादिकाल से अनन्त बार काम, भोग, बन्ध कथा सुना, परिचय लिया, अनुभव किया अतएव यह सब सुलभ है, इससे विपरीत स्व—शुद्ध स्वरूप आध्यात्मिक गुण—धर्म यथा—समता, शान्ति, सत्य, पवित्रता, क्षमा, अहिंसा आदि गुणों को यथार्थ से न जाना, न ही माना, न ही परिचय लिया तथाच इससे भी अधिक अनुभव तो कभी भी किया ही नहीं है। इन सब कारणों से प्रायः समस्त संसारी जीवों की सहज—सुलभ प्रवृत्ति उपरोक्त कुभाव—व्यवहारों में शीघ्रता से एवं तीव्रता से बिना दूसरों के शिक्षण—प्रशिक्षण, उपदेश—मार्गदर्शन, अनुमोदना—समर्थन आदि से प्रवृत्ति भी होती रहती है। किन्तु शिक्षण से लेकर समर्थन आदि से भी आत्मकल्याण

के निमित्तभूत हिताहित विवेक, समता आदि उत्तम भाव—व्यवहार में शीघ्रता एवं तीव्रता से प्रवृत्ति नहीं होती है। जैसा कि पानी स्वाभाविक रूप से निम्नगामी होता है तथा उर्ध्वगामी श्रम साध्य—कष्टसाध्य है वैसा ही जीवों की कुप्रवृत्ति स्वाभाविक है तथा सुप्रवृत्ति श्रमसाध्य—कष्ट साध्य है। मनोविज्ञानानुसार भी भय, आक्रमण, कामभाव, हिंसा आदि मूल प्रवृत्तियाँ हैं जो कि मनुष्यों में एवं पशु में भी समान रूप से, सहजता से पायी जाती है। इसीलिए पूर्वाचार्यों ने राग—द्वेष—मोह—काम—क्रोधादि की दृष्टि से संसार के हर जीवों को आचार्य कहा है। अर्थात् वे इन सब प्रवृत्तियों के विशेषज्ञ हैं तथा वे इन सब में प्रवृत्त होते हैं और दूसरों को भी प्रवृत्त कराते हैं। आधुनिक विज्ञानानुसार मानव—मस्तिष्क की गहराई—केन्द्र में अभी भी हिंस—सरीसृप का मस्तिष्क है जिसके कारण मानव अभी मूलरूप से हिंस—सरीपृष्ठ के जैसे भाव—व्यवहार करता है। जैनधर्म में तथा नीतिकारों ने भी प्रकारान्तर से प्रायः ऐसा ही वर्णन किया है। यथा—येषां न विद्या तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं गुणो न धर्मः। ते मर्त्यलोके भुवि भा भुत्वा, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति॥

अर्थात् जो मानव आध्यात्मिक विद्या, महान् कार्य के लिए पुरुषार्थ रूपी तप, स्व—परोपकार रूपी दान, सत्य का यथार्थ परिज्ञान, शील—सदाचार, विकास के कारणभूत गुण, वस्तुस्वाभावात्मक धर्म से रहित है वह धरती के भार स्वरूप मनुष्याकार के पशु हैं।

आहार निद्रा भय मैथुनानी, सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्। ज्ञानं विशेषः खलु मानवानाम्, ज्ञानेन हीना पशुभिः मानवाः॥

आहार, निद्रा, भय, मैथुन तो पशु एवं मनुष्य में समान है। अर्थात् आहार आदि के कारण मनुष्य पशु से पृथक् या श्रेष्ठ नहीं हो जाता है। हिताहित विवेक रूपी आत्मज्ञान ही मनुष्य की विशेषता है जो मनुष्य को पशु से पृथक् करती है। ऐसे ज्ञान से रहित मनुष्य वस्तुतः पशु है।

हिताहित जाने नहीं, मानव बिना विवेक।

सींग पुच्छ बिन बैल है, भगिनी भाविनी एक॥

आध्यात्मिक दृष्टि से जो पशु सम्यग्दृष्टि है उसका

आध्यात्मिक सोपान (गुणस्थान) चौथा है तथा जो पापों को प्रतिज्ञापूर्वक यथायोग्य आंशिक रूप से त्याग करते हैं उनका गुणस्थान पाँचवां है। अतः ऐसे पशु तो मिथ्यामान्यता, अविविकी तथा सद्व्यवहार से रहित मनुष्यों से अतिश्रेष्ठ है, क्योंकि ऐसे अन्यश्रद्धा, अविवेक, गलत आचरणों से युक्त मनुष्यों के समस्त आस्था, ज्ञान एवं व्यवहार भ्रमपूर्ण, असत्य, विरोधाभासी, अवचेतन संतोषी, स्व—पर अहितकारी होते हैं।

उपर्युक्त विषय को आध्यात्मिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन के लिए कुछ विषय में उद्भूत कर रहा हूँ।

संसारमूलहेदुं मिच्छत्तं सब्वदा विवज्जेहिं।

बुद्धि गुणणिद पि हु मिच्छत्त मोहिदं कुणदि॥ (भ.आ. 723)

मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है उसका मनवचनकाय से त्याग करो क्योंकि मिथ्यात्व गुणयुक्त बुद्धि को भी मूढ़ बना देता है। सूत्रकार ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है — मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग बन्ध के कारण हैं। यहाँ उन्होंने बन्ध के कारणों में मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया है और बन्धपूर्वक संसार होता है। वह पदार्थ को यथार्थ रूप से जानने का गुण रखने वाली बुद्धि को भी विपरीत कर देता है। सुनने की इच्छा, सुनना, ग्रहण और धारण करना आदि बुद्धि के गुण हैं। ऐसी गुणयुक्त बुद्धि को भी मिथ्यात्व विपरीत कर देता है।

मयतिष्ठियाओ उदयति मया मण्णति जह सतण्हयगा।

तहा य णा वि असदभूदं सदभूदं ति मण्णति मोहेण ॥ (724)

सूर्य की किरणें पृथ्वी की उष्णा से मिलकर जल का भ्रम उत्पन्न करती है उसे मृगतृष्णा कहते हैं। जैसे प्यास से पीड़ित मृग उसे पानी जानते हैं वैसे ही मनुष्य भी दर्शनमोह के कारण अतत्व को भी तत्त्व जानता है।

मिच्छत्त मोहणादो धत्तुरथमोहणं वरं होदि।

वद्धेदि जम्मरणं दंसणमोहो दु ण दु इदरं॥ (726)

मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न हुए मोह से धतूरे के सेवन से उत्पन्न हुआ मोह (मूर्च्छा) उत्तम है; क्योंकि दर्शनमोह से उत्पन्न मोह नाना योनियों में जन्म—मरण को बढ़ाता है किन्तु धतूरे के सेवन से

उत्पन्न हुआ मोह, जन्म—मरण की परम्परा नहीं बढ़ता। अतः कुछ दिनों के लिए मोह उत्पन्न करने वाले धूतों के मद से अनन्तकाल के लिए विपरीत बुद्धि करने में समर्थ मिथ्यात्व का मोह अत्यन्त बुरा है। अतः जन्ममरण की परम्परा से भीत आपको मिथ्यात्व को त्याग देना चाहिए।

यत्यत् आचरितं पूर्वं तत्तत् अज्ञानं चेष्टितम्।

उत्तरोत्तर विज्ञानात् योगिनः प्रतिभाषते ॥

उत्तरोत्तर विज्ञान होने पर योगियों को पूर्व पूर्व में आचरित आचरण अज्ञान पूर्वक हुआ था ऐसा परिज्ञान होता है। अर्थात् अज्ञान अवस्था में जो गलत आचरण अज्ञानी करता है उस आचरण को अज्ञानी अपनी अज्ञानता के कारण सही मानता है। अन्य प्रकाश का ज्ञान नहीं कर सकता है। वह अन्धकार तथा प्रकाश में भेदज्ञान नहीं कर सकता है। अन्धकार तथा प्रकाश के ज्ञान के बिना वह अन्धकार तथा प्रकाश के पृथक्—पृथक् गुणधर्म तथा उपयोगिता को नहीं जान सकता है और उसका सही उपयोग नहीं कर सकता है। इसी प्रकार मोही, अज्ञानी जो कुछ सोचता है करता है वह सब मोह, अज्ञान से युक्त होने से सत्य एवं पवित्रता से रहित होता है।

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते नहि।

मतः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥(7) इष्टोपदेश

जब ज्ञान मोहनीय कर्म के विपाक से अभिभूत हो जाता है तब वह ज्ञान वस्तु स्वरूप को यथार्थ प्रकाशन करने में असमर्थ हो जाता है। शुद्ध स्वरूप से ज्ञान कथञ्चित् आत्मा से अभिन्न है और वस्तु स्वरूप को यथार्थ से जानने के लिए पूर्ण समर्थ है परन्तु कर्म परवशता के कारण ज्ञान में / आत्मा में विकार उत्पन्न हो जाता है। कहा भी है — जिस प्रकार मल से आबद्ध मणि एक प्रकार का नहीं होता है, एक प्रकार का प्रकाश नहीं देता है उसी प्रकार कर्म से आबद्ध आत्मा भी एक प्रकार का नहीं होता है, और एक प्रकार का नहीं जानता है। नशे को पैदा करने वाले कोद्रव — कोदों धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है ऐसा पुरुष घट, पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञानगुण यद्यपि

अमूर्त है, फिर भी मूर्तिमान कोदादि धान्यों से मिलकर बिगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त आत्मा मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दब जाते हैं।

मिच्छतं वेदंतो जीवो विवरीय दंसणो होदि।

ण्य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ (17)

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभव करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धा से युक्त होता है। वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म, वस्तु—स्वभाव, मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता। पित्त ज्वर से ग्रसित व्यक्ति मीठे दूध—रसादि को पसन्द नहीं करता; उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता है। अवस्तु में वस्तुभाव, अर्धमें धर्मभाव, कुगुरु में गुरुभाव, कुशास्त्र में शास्त्रभाव को धारण करता है। बहिरात्मा केवल शरीर पोषण करता है, अतीन्द्रिय आत्मोत्थ सुख से बहिर्मुख होकर विषय सुख में लीन रहता है। बाह्य—भौतिक हानि—वृद्धि में अपनी हानि—वृद्धि मानकर सुखी—दुःखी होता है।

कबीरदास ने भी कहा है —

माया दीपक नर पतंग, ग्रन्मि ग्रन्मि इवै पडन्त।

कहे कबीर गुरु ज्ञान थे, एक आध उबरन्त ॥

अर्थात् जिस प्रकार कि दीपक से आकर्षित होकर पतंग उड़—उड़कर दीपक में पड़कर जलते जाते हैं तथापि शिक्षा लेकर सचेत सावधान होकर इस प्रवृत्ति से निवृत्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार माया रूपी दीपक में मानव रूपी पतंग की दुर्दशा हो रही है। आध्यात्मिक सद्गुरु के ज्ञान से कोई बिरले ही निकट—भव्य महानुभाव शिक्षा लेकर इस मोह—माया—अज्ञान दीपक में पड़कर जलने के दुःख—मरण से निवृत्त हो पाते हैं। इसीलिए कबीरदास ऐसे गुरु के लिए कहते हैं —

सद्गुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार।

लोचन अनन्त उघाड़िया, अनन्त दिखावणहार ॥

पं. दौलतराम ने कहा भी है —

सदगुरु देय जगाय, मोह नींद जब उपशमै।
तब कुछ बने उपाय, कर्म चोर आवत रँकै॥

अर्थात् सतगुरु उन्हें जगा सकते हैं जिनके मोह नींद कुछ उपशमन हो जाती है। तीव्र मोहनिद्रा में आवेशित प्राणी को सतगुरु भी नहीं जगा सकते हैं। जैसा कि तीव्र उष्णता से युक्त कांच को शीतल करने के लिए उस में शीतल पानी डाला जाए तो वह कांच टुकड़ा-टुकड़ा हो जाता है वैसा ही तीव्र मोह-कषाय से युक्त जीवों को सतगुरु के अमृतपम उपदेश तथा उनकी संगति भी गुणकारी नहीं है किन्तु दुष्ट-दुर्जन संगति तथा कुभाव-कुप्रवृत्तियों में ही उसकी मित्रता होती है। यथा—

झूठे को झूठा मिलै, दूर्ण बंधै सनेह।

झूठे को साचा मिलै, तब ही तूटै नेह॥ (कबीर)

अर्थात् झूठे को (काम-क्रोध-मोह-माया तथा इन से युक्त जीव) झूठा मिलने से झूठ सम्बन्धी स्नेह दोगुना हो जाता है तथा झूठे को साचा (सत्य, सच्चे गुरु, आत्मज्ञान, आत्मज्ञानी) मिलने से मोह सम्बन्धी स्नेह टूटता है। यथा—

गुरुपदेशाभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम्।

जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्॥ (33) इष्टो.

इस श्लोक में आचार्य श्री ने मोक्ष प्राप्ति में कारण सदगुरु का उपदेश सुनकर उस उपदेश से शिष्य में उत्पन्न हुआ भेद-विज्ञान और भेद-विज्ञान से प्राप्त हुआ मोक्ष सुख का व्यवस्थित क्रमबद्ध वर्णन किया है। सम्यग्दर्शन प्राप्ति के लिए अनेक बहिरंग कारण में गुरु उपदेश भी एक कारण है और अन्तरंग कारण भी एक भाव की निर्मलता है। सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है तथापि आध्यात्मिक अनुभवात्मक सूक्ष्म रहस्य का परिज्ञान भी गुरु से प्राप्त होता है। इसके आधार पर शिष्य आध्यात्मिक साधना की गहराई में पहुँचता है और आत्मा में स्थिर होकर शाश्वतिक मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

शिक्षा विज्ञान में मुख्य चार तत्त्व होते हैं। यथा—शिक्षा, शिक्षक, शिक्षार्थी, शिक्षाफल। जिसके द्वारा मनुष्य सुसंस्कृत, सुसम-

सुसंस्कारित बनता है, उसे शिक्षा कहते हैं। शिक्षा का फल है आत्मा में निहित अनन्त शक्तियों का प्रकटीकरण। यथा—ज्ञान प्राप्ति, विनप्रता, समायोजना, सदाचार, स्वावलम्बन, रत्नत्रय आदि। इस प्रकरण में हम गुरु अथवा शिक्षक के बारे में विचार विमर्श करेंगे। प्राचीनकाल में शिक्षकों को विशेषतः गुरु नाम से ही सम्बोधित किया जाता था। गुरु की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि—

गु अन्धकारस्तु 'रु' तस्य निरोधकम्।

अन्धकारः निरोधत्वात् गुरुः इत्यभिधियते ॥

गुरु = गु = अन्धकार, रु = प्रकाश। जो अज्ञान रूपी अन्धकार को हटाकर प्रकाश में ला दे वही तो गुरु है। वही तारण-तरण है। अपने आप भी तिरते हैं, दूसरों को भी तिराते हैं। गुरु गुणों से भारी यानि जिस में गुण भरे हों उसे गुरु कहते हैं। जो गुणों से खाली है वह गुरु नहीं है। जीव को सबसे पहिले स्व-हितकर एवं स्व-अहितकर के बारे में विश्वास, विज्ञान करके तदनुकूल आचरण करना विधेय है, आवश्यक है, अनिवार्य है तब ही स्व-विकास, स्व-उपकार, स्व-कल्याण सम्भव है। यथा—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।

यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं ॥ (19)

शरीर, धन, वस्त्रादि पौद्धलिक होने के कारण और आत्मा इससे भिन्न अमूर्तिक चैतन्य द्रव्य होने के कारण जो आत्मा के लिए उपकारी है, वह शरीर के लिए अपकारी है और जो आत्मा के लिए अपकारी है, वह शरीर के लिए उपकारी है; क्योंकि आत्मा का पोषण रत्नत्रय, क्षमादि दस धर्मों से होता है और शरीर का पोषण आहार गत्र, पानी आदि से होता है, इसका कारण यह है कि शरीर पौद्धलिक होने के कारण उसका पोषण पौद्धलिक आहारादि से होना स्वाभाविक है और आत्मा अमूर्तिक चैतन्य द्रव्य होने से रत्नत्रयादि आत्मिक गुणों से आत्मा का पोषण होना स्वाभाविक है और विरोधी द्रव्य से पोषण/अपकार होना भी स्वाभाविक है। संसारी जीव जो शरीर, मन, विचार से युक्त है वह पौद्धलिक होने के कारण उपकार भी पौद्धल से ही होता है।

मोह—अज्ञान से आवेशित जीव शरीर, शरीर की आवश्यकता रूपी भोगोपभोग की वस्तु, शरीर से सम्बन्धित कुटुम्ब आदि को ही स्व—स्वरूप मानकर, जानकर, श्रद्धाकर उस सम्बन्धी ही सोच—विचार—व्यवहार करके स्वयं को श्रेष्ठ—ज्येष्ठ—कर्तव्यनिष्ठ—सफल मानकर पुनः राग—द्वेष—मोह—अहंकार—ममकार—ईर्ष्या—तृष्णा—काम—क्रोध में आक्रान्त हो जाता है, वह कोल् के बैल के जैसे विवेक रूपी चक्षु में मोह अज्ञान रूपी पट्टी बांधकर शरीर भौतिक रूपी संकीर्णता की परिधि में जीवन भर चक्कर काटता हुआ स्व—महान् स्वरूप—लक्ष्य—विकास—सफलता से अनजान होकर विपरीत आचरण करता हुआ दुःखी होता रहता है। इसीलिए आध्यात्मिक गुरु दयाद्र द्वारा भव्य जीवों को प्रेरित करते हैं, मार्गदर्शन करते हैं। यथा—

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।

अपकुर्वन्परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्॥ (32) इष्टो.

इस श्लोक में आचार्य श्री ने लौकिक उदाहरण देकर यह समझाया कि जिस प्रकार लोक में बिना जाने शत्रु का भी उपकार कर लेते हैं परन्तु जब पता चल जाता है कि ये मेरा शत्रु है तब उसका उपकार छोड़कर आत्म—उपकार करते हैं, उसी प्रकार शरीर, धन—सम्पत्ति आदि जो परद्रव्य हैं, उसको मोही जीव अपना मानकर उसका संरक्षण, संवर्धन करता है, परन्तु स्व—आत्म—द्रव्य को न जानता है, न मानता है, न उसका उपकार करता है। इसीलिए दयालु परोपकारी आचार्य गुरुदेव भव्य को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे भव्य ! तुम अनादिकाल से मोह से मोहित होकर स्व—उपकार को भूलकर दूसरों के उपकार में ही लगे हुए हो। तुम अभी तक धोबी का काम, गधे का काम, गुलामी का काम करते आ रहे हो। जिस प्रकार धोबी दूसरों के गन्दे कपड़े धोता है उसी प्रकार तुमने भी दूसरों की गलती को देखकर उसको दूर करने में लगे हुए हो परन्तु स्वयं की गलती का भान तक तुम्हें नहीं है। जिस प्रकार गधा भी दूसरों का भान (बोझ) ढोता है, उसी प्रकार तुम भी शरीर का, कुटुम्ब का, धन का अभिमान ढो रहे हो। जिस प्रकार गधा अपने पीठ पर चन्दन की लकड़ी का भान केवल ढोता रहता है परन्तु चन्दन की सुगन्धी तथा

शीतलता का अनुभव नहीं करता है। इसी प्रकार जीव, शरीर, सम्पत्ति, कुटुम्ब का भान ढोता रहता है, परन्तु आत्मा का आनन्द अनुभव नहीं करता है। वह उस भान को ही अपना सर्वस्व, गौरव, बड़प्पन मान लेता है। जो अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि से धन कमाता है, उस धन के कारण वह स्वयं को बड़ा मान लेता है और दूसरे लोग भी उसको बड़ा मान लेते हैं। गुलाम जिस प्रकार मालिक के अधीन होकर उसके निर्देश के अनुसार दीन—हीन होकर मालिक की सेवा करता है। उसी प्रकार मोही जीव शरीर, कुटुम्ब, धन, सम्पत्ति तथा राग—द्वेष के गुलाम बनकर उसकी नौकरी करता है और यह सब करता हुआ भी स्वयं को श्रेष्ठ मान लेता है। जो ज्ञान, वैराग्य से सम्पन्न होकर परिवार तथा वैभवादि त्यागकर स्व—आत्मकल्याण करना चाहता है, उसे भी ऐसे मोही जीव, दीन—हीन, असहाय, गरीब मान लेता है। इसीलिए आचार्य श्री ने यहाँ कहा कि हे मोही ! तुमने अनन्त संसार में दूसरों के लिए इतना रोया, इतना आंसू बहाया कि यदि उस आंसू को इकट्ठा किया जाये तो अनेक समुद्र की जलराशि से अधिक हो जाएगा, अनन्त बार तुम दूसरों के गुलाम, भाई, पिता, पुत्र, स्त्री आदि बने और दूसरे भी तुम्हारे अनन्त बार बने। इन सबके उपकार के लिए तुमने जितना परिश्रम किया, उसका अनन्तवाँ भाग भी स्वोपकार में लगाओगे तो तुम तीन लोक के स्वामी अर्थात् सिद्ध भगवान् बन जाओगे। इसीलिए कुन्द कुन्दाचार्य देव ने कहा है—“आदहिदं कादवं” अर्थात् आत्महित अच्छी तरह से समग्रता से करना चाहिए।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड़सामली।

अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा मे नन्दणं वणं॥ (36)

मेरी अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट—शाल्मली वृक्ष है, कामदुधा—धेनु है और नन्दनवन है।

अप्पा कत्ता विकत्ताय दुहाण य सुहाणय।

अप्पा मित्तमित्तंच दुपट्टिय — सुपट्टिओ॥ (37)

आत्मा ही अपने सुख—दुःख का कर्ता है और विकर्ता—भोक्ता है। सत्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही शत्रु है।

संक्षिप्ततः कहें तो अनादिकालीन कुसंस्कार/कर्म के कारण तथा तात्कालीन आवश्यकता—इच्छा—तृष्णा आदि के निमित्त मानव उपरोक्त पाश्विक प्रवृत्तियों में लिप्त होता है। कथञ्चित् अधिकांश मानव पशुओं से भी अधिक कुभाव—कुप्रवृत्तियों में लिप्त होते हैं। अधिकांश पशु—पक्षी आदि अपनी प्राकृतिक इच्छा—आवश्यकता की पूर्ति की सीमा/मर्यादा में रहते हैं परन्तु अधिकांश मानव आवश्यकता से अधिक तृष्णा—अहंवृत्ति आदि की पूर्ति के लिए अपनी सीमा/मर्यादा का उल्लंघन करने के कारण क्रूर से क्रूर पशु से भी अधिक हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, विध्वंस करके स्व—पर—पर्यावरण — विश्व को क्षति पहुँचाते हैं। इसलिए तो क्रूर मांसभक्षी, शिकारी प्राणी सिंह भी 5 वें नरक में जाता है तो पापिनी स्त्री 6 वें नरक में तो पापी पुरुष 7 वें नरक में जाता है। इससे विपरीत जब मानव सत् चिन्तन—सत् पुरुषार्थ करता है तो मानव से महामानव एवं महामानव से भगवान् बन जाता है। पाश्विक प्रवृत्तियों से पतन एवं उसकी निवृत्ति से उत्थान/पावन के हजारों—लाखों उदाहरण ग्रंथों में लिपिबद्ध हैं और कुछ अंश में जीवन्त उदाहरण भी वर्तमान में हैं। रत्नाकर डाकू से महर्षि बाल्मीकी, अंगुलिमाल डाकू से बौद्ध भिक्षु, दृढ़ प्रहरी से साधु, अंजरचोर से निरंजन (सिद्ध भगवान्), विद्युत् चोर से साधु, चण्डाल अशोक से देवानांप्रिय, प्रियदर्शी अशोक, साधुद्रोही श्रेणिक से भ. महावीर के भक्त तथा भावी तीर्थकर आदि अनेक प्रसिद्ध उदाहरण हैं।

भ.महावीर के हीयमान एवं वर्धमान चारित्र भी अत्यन्त लोमहर्षक एवं शिक्षाप्रद हैं जो कि संक्षिप्त में निम्नोक्त हैं—

(1) अत्यन्त प्राचीनकाल में भ. महावीर का जीव पुररवा भील था। सागर सेन मुनि की शिक्षा से कौआ का मांस नहीं खाने का नियम लेने से मरकर (2) सौधर्मस्वर्ग में देव हुआ। (3) भ. ऋषभदेव के पुत्र भरत का पुत्र मारीचि हुआ। (4) ब्रह्म स्वर्ग में देव हुआ। (5) कपिल ब्राह्मण का पुत्र जटिल हुआ। (6) सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। (7) भारद्वाज ब्राह्मण के पुष्यमित्र पुत्र हुआ। (8) सौधर्म स्वर्ग का देव हुआ। (9) अग्निसह ब्राह्मण हुआ। (10) माहेन्द्र देव हुआ। (11) अग्निमित्र ब्राह्मण हुआ। (12) माहेन्द्र स्वर्ग में देव। (13) भारद्वाज ब्राह्मण। (14) अकौआ वृक्ष 60 हजार पर्याय।

(15) सीप 80 हजार पर्याय (16) नीबू 20 हजार पर्याय। (17) अशोक वृक्ष 11 हजार पर्याय। (18) केशरी वृक्ष 5 करोड़ पर्याय। (19) चन्दन वृक्ष 3 लाख पर्याय। (20) मछली 3 क.प. (क. = करोड़, प. = पर्याय) (21) वैश्या 60 क.प.। (22) हाथी 20 क.प.। (23) गधा 60 क.प.। (24) कुत्ता 30 क.प.। (25) नपुंसक 60 क.प.। (26) स्त्री 20 क.प.। (27) धोबी 90 क.प.। (28) घोड़ा 8 क.प.। (29) स्वर्ग 80 क.प.। (30) असुरदेव 30 क.प.। (31) बिल्ली 60 क.प.। (32) भोग भूमियाँ 60 क.प.। (33) चाण्डाल 5 क.प.। (34) ब्राह्मण 1 प.। (35) देव 1 प.। (36) राजपुत्र 1 प.। (37) देव 1 प.। (38) अर्धचक्रवर्ती 1 प.। (39) सातवें नरक 1 प.। (40) सिंह 1 प.। (41) पाँचवे नरक 1 प.। (42) सिंह 1 प.। (इस पर्याय में चारण ऋद्धिधारी मुनि से उपदेश प्राप्त कर पाश्विक प्रवृत्तियों को त्यागकर आत्मरूचिपूर्वक सच्चा धर्म को स्वीकार करके मांस खाना, हिंसा करना आदि पापों को त्यागकर समाधि लेकर मरा।), (43) देव 1 प.। (44) राजपुत्र 1 प.। (45) देव 1 प.। (46) राजा हरिषेण 1 प.। (47) देव 1 प.। (48) राजपुत्र 1 प.। (49) देव 1 प.। (50) राजा हरिषेण 1 प.। (51) देव 1 प.। (52) चक्रवर्ती 1 प.। (53) देव 1 प.। (54) राजा नन्द 1 प.। (55) अच्युत स्वर्ग का देव 1 प.। (56) तीर्थकर भ.महावीर। (57) मोक्ष गमन — सिद्ध भगवान् और कुछ शास्त्रों में अन्य कुछ भवों के भी वर्णन हीनाधिक रूप में पाये जाते हैं। उपरोक्त भव प्रायः 5 शंख 37 करोड़ 4 लाख 31 हजार 23 है। यह भव तो पुररवा भील से भ.महावीर अवस्था/पर्याय तक के हैं। वैसे अनादिकाल से 5 परिवर्तन में अनन्तान्त भव होते हैं। भ. महावीर की इस संक्षिप्त जीवनी से शिक्षा मिलती है कि वे जब भील की पर्याय में कौआ का मांस का त्याग किया तब इस त्यागवृत्ति के कारण मरकर के देव हुए। वहाँ से मारीचि हुए। इस पर्याय में साधु बनकर भ. आदिनाथ के समवशरण में दिव्यध्वनि से सुना कि मारीचि अगले भव में तीर्थकर होने वाला है। यह सुनकर उसे अहंकार हो गया, जिससे वह साधु पर्याय से च्युत हो गया। इसके कारण उन्हें उपरोक्त पर्यायों में जन्म लेना पड़ा, फिर सिंह की पर्याय में साधु के उपदेश से आत्मजागृति से पशुत्ववृत्ति कम हुई जिससे उनका उत्थान होता गया जिससे वे आगे जाकर तीर्थकर महावीर बने। इसीलिए कहा है—
सुलझे पशु उपदेश सुन, तू क्यों न सुलझे पुमान।
नाहर से भये वीर प्रमु, गज से पारस महान्॥

**फादर्स डे के उपलक्ष्य में आ. कनकनन्दी का आह्वान
भारतीयों के लिये दिशानिर्देशक - आह्वान -
कारक खुला पत्र
(हे विश्वगुरु भारत की सन्तान ! अभी पुनः जागो !
आगे बढ़ो ! महानता को प्राप्त करो !)**

— आचार्य कनकनन्दी

हे ! प्राचीनकालीन विश्वगुरु भारत के नागरिकों ! आप सबको शुभकामनाओं सहित धर्म वृद्धि, शुभाशीर्वाद। अति देरी से यह पत्र लिख रहा हूँ इसलिए क्षमा चाहता हूँ।

सर्वप्रथम मैं प्राचीन भारत की गौरव गाथा लिखकर तुम्हें प्रेरित करना चाहता हूँ। कहा जाता है, भारत कभी विश्वगुरु था। विश्व साहित्य के अध्ययन से यह सही सिद्ध होता है कि सचमुच ही भारत पहले विश्वगुरु रहा है। इसके लिये प्रमाण—साक्ष्य है कि भारत में हर क्षेत्र में अनेक महापुरुष हुए। उन्होंने महान् काम किया, आत्मा से लेकर परमात्मा का शोध किया और इन सब विषयों को शास्त्रों में लिखकर रखा। उनमें से अनेक ग्रंथ तो विदेशियों ने जला दिये तो कुछ लेकर अपने देश चल दिये। अभी भी जो थोड़ा—बहुत ग्रंथ है उससे भी मालूम पड़ता है कि भारत में बहुत ही बड़े—बड़े ज्ञानी—विज्ञानी—महापुरुष हुए हैं और उन ग्रंथों में धर्म, दर्शन, विज्ञान, गणित, आयुर्वेद, राजनीति, कानून, कला, वाणिज्य आदि का वर्णन है। भारत में तक्षशिला, विक्रमशिला, नालन्दा आदि विश्वविद्यालयों में 50—60 विषयों का अध्ययन देश—विदेशों के हजारों विद्यार्थी करते थे। वे अध्ययन के बाद विभिन्न देशों में जाकर उसका प्रचार—प्रसार करते थे। सप्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने भी विदेशों में जाकर धर्म का प्रचार—प्रसार किया। इन सब कारणों से भारत को विश्वगुरु कहा गया, इन सब अच्छाइयों के कारण भारत धन—धान्य से भी पूर्ण था। इसलिये भारत को ‘सोने की चिड़िया’ “दूध—धी के देश” कहते थे। रामराज्य जैसे राजतंत्र तथा लिच्छीवि आदि लोकतंत्र में भी प्रजा सुख—शान्ति, धन—धान्य से युक्त थी। कालक्रम से नैतिक पतन के कारण तथा विदेशी आक्रान्ताओं के कारण भारत बहुत वर्षों तक गुलाम रहा। अभी आजाद होने के 63 वर्षों के बाद भी नैतिक उत्थान नहीं होने से भारत की दुर्दशा हो रही है। इन सब पीड़ा से पीड़ित होकर यह पत्र लिख रहा हूँ जिससे तुम नैतिक उत्थान से भारत को पुनः विश्व गुरु बना कर विश्व की सेवा कर सकते हो। नीति कारों ने कहा भी है —

यान्ति न्याय प्रवृत्तस्य तिर्यचोऽपि सहायताम् ।
कुपंथानां तु गच्छन्त सोदरोऽपि विमुचन्ति ॥

अर्थात् जो मानव न्याय—नीति सदाचार में प्रवृत्त होते हैं उन्हें पशु—पक्षी भी सहयोग करते हैं, किन्तु जो इससे विपरीत कुर्मार्ग में चलते हैं उन्हें सहोदर — भाई भी छोड़ देता है। वाल्मीकी रामायण के अनुसार श्रीराम के नीति मार्ग में चलने के कारण बन्दर, भालु आदि ने भी सहयोग किया परन्तु अनीति मार्ग में रावण के चलने के कारण उसका भाई विभीषण भी उसे छोड़कर राम का सहयोगी बना। इसके कारण रावण मारा गया, श्रीराम विजयी बने और विभीषण लंका का राजा बना। ऐसा ही दुर्योधन—पाण्डव, जरासंध कंस — श्री कृष्ण, हिंटलर, मुसोलिनी आदि के बारे में आप लोगों ने सुना होगा, पढ़ा होगा भी, अभी इसे गुनना और अनैतिक मार्ग को छोड़कर नैतिक मार्ग को अपनाना। कृत्रिम खाद, विषाक्त रसायन से उपजाये गये, पके हुए, संरक्षण किये गये अनाज, फल आदि जिस प्रकार कि स्वास्थ्य के लिये अहितकर है, अकाल—कुमरण के लिये कारण है उस प्रकार अनैतिक रूप से किये गये हर कार्य आप लोगों के स्वास्थ्य के लिये, साथ ही साथ भारत के स्वास्थ्य के लिए अहितकर है, विनाश कारक है। इसलिये कहा गया है — “चोरी का माल मोरी में जाता है।” अनैतिकता से प्राप्त सफलता भले पहले मीठा जहर के समान अच्छा लगती है परन्तु धीरे—धीरे विनाश के कारण अवश्य बनती है।

आजकल रातों—रात सफलता प्राप्त करने के लिये जो शॉर्टकट रास्ता अपना रहे हो वह सब भटकाव ही भटकाव है। इसके लिये अन्याय, भ्रष्टाचार आदि हत्कण्डे अपनाना पड़ता है। न विद्यालयों में न ही घर — परिवार — समाज, व्यापार — कानून — राजनीति, नौकरी में नैतिकता है अपितु अनैतिकता का ही बोलबाला है। अधिक क्या कहा जाय आजकल तो धर्म में भी आडम्बर, धन, भीड़, नाम, धनी—मानी, नेता, अभिनेता, खलनेता, खलनेता, माला, माईक, मंच आदि का ही दबदबा है, प्रधानता है। इन सब धूली — धून्ध — बवण्डर के कारण न सच्चाई — अच्छाई का ज्ञान — भान हो रहा है न ही कोई बड़े लक्ष्य को प्राप्त कर पा रहे हैं, और भी अनेक छोटी—छोटी बातों के ऊपर आप लोगों को ध्यान देकर सुधार करना अत्यन्त जरूरी है। जैसाकि समय का बर्बाद करना, जहाँ—तहाँ गन्दगी फैलाना, राष्ट्रीय — सार्वजनिक सम्पत्ति का दुरुपयोग करना, फैशन — व्यसन करना, अनावश्यक / अधिक बातें करना, फालतु वाद—विवाद करना, अनुशासन भंग करना, उद्दंडता करना, दूसरों का अनावश्यक और अहितकर नकल करना, आलस्य, विलासिता, दूसरों को क्षति पहुँचाना, दुःख देना, भ्रष्टाचार, मिलावट, परीक्षा में नकल करना, रटन्त विद्या, दूसरों की निन्दा — चुगली, दूसरों से ईर्ष्या — द्वेष, बैमानी (बैमानी) प्रदर्शन, दिखावा, आडम्बर, फिजुलखर्ची आदि सब विकास के लिए घातक हैं। इन सब कमियों को दूर किये बिना केवल पढ़ाई, पैसा आदि से विकास (तरक्की) के बदले केवल नुकसान ही नुकसान संभव ही नहीं है अपितु नुकसान देर — सबेरा अवश्य होता ही है।

मैंने 13 प्रदेशों के हजारों ग्राम – नगरों के गरीब से लेकर अमीर तथा अशिक्षित से लेकर शिक्षित लाखों बच्चों से लेकर बड़ों में देखा परखा और अनुभव किया कि आप लोग समय, शक्ति, साधन, धन, जन, श्रम, बुद्धि, शिक्षा, राजनीति, कानून, संविधान, नीति-नियम, धन का सदुपयोग कम करते हो और अपव्यय तथा दुरुपयोग अधिक करते हो, तथापि बहाना करते रहते हो कि हमारे पास समय, साधन, धन आदि नहीं हैं। 2 से 2.5 वर्ष की आयु से ही रुढ़िवादी पढ़ाई तो करते और करते हो परन्तु सम्पूर्ण विकास के लिये, सुख-शान्ति के लिये भी नैतिक-धार्मिक-आध्यात्मिक ज्ञान से दूर रहते हो, फालतु मानते हो। ऐसा ही धन, नाम कमाने के लिये एड़ी-चोटी एक कर लेते हो, परन्तु देश सेवा, परोपकार, माता-पिता की सेवा, गुरुजन –गुणीजन की सेवा/व्यवस्था/संगति के लिये आलसी होते हो, बहाना करके दूर रहते हो। धर्म के नाम पर आड़म्बर करते हो, फिजुल खर्च करते हो, मनोरंजन के कार्यक्रम करते हो, भाग लेते हो, भीड़ जुटाते हो और भीड़ में जुड़ते हो, भेदभाव, लड़ाई-झगड़ा करते हो।

मेरा धर्म बड़ा, मेरा पंथ/मत बड़ा का तो थोथा घमण्ड करके बाद-विवाद करके राग-द्वेष, भेद-भाव करते हो परन्तु धर्म के रहस्य न जानते हो न ही मानते हो अथवा जानने के लिये न ही कोशिश करते हो। ऐसा ही राजनीति, न्याय, प्रशासन, व्यवस्था, अनुशासन, आधुनिकता, प्रगतिशीलता, राष्ट्र, प्रदेश, भाषा, वंश, जाति, परम्परा, इतिहास आदि में भी करते रहते हो। सच्चाई – अच्छाई का तो गौरव / स्वाभिमान होना ही चाहिये, क्योंकि इससे आप लोग छोटा एवं खोटा काम नहीं करोगे, जिससे विकास होगा परन्तु थोथा घमण्ड करके छोटा एवं खोटा काम करते हो जिससे आप लोगों की ऐसी दुर्दशा है। आप लोगों में अहंकार के साथ-साथ दीनता भी बहुत है। दीनता के कारण ही आप लोग विदेशियों की नकल करते हो, नट-नटी (हीरो-हीरोइन) को सिर पर चढ़ाकर नाचते हो, धनी-मानी-नामी व्यक्तियों से घबराते हो।

आप लोगों का मिथ्या भ्रम है कि हम तो आधुनिक पढ़े लिखे हैं, हम आगे बढ़ रहे हैं, हम बुद्धिमान हैं। आप लोगों को यह भ्रम आप लोगों की कूपमण्डुकता/संकीर्णता/अज्ञानता/मिथ्याज्ञान/अधूराज्ञान के कारण है। अभी आप लोगों को आधुनिक विज्ञान, प्रगतिशील वैशिक ज्ञान तथा इससे भी सूक्ष्म एवं महान् ज्ञानरूप आध्यात्मिक ज्ञान नहीं है। इसलिए “रिता चना बाजे घना”, “अधभरी गगरी छलकत जाये” के अनुसार आप लोगों की धारणा एवं प्रवृत्ति हो रही है। आप लोग एकाध अंग्रेजी शब्द बोलकर, फैशन – व्यसन, दिखावा करके, कागजी डिग्री प्राप्त करके एकाध रूपया कमाकर, आलसी बनकर, अनग्र-अशालीन व्यवहार करके स्वयं को आधुनिक, बड़ा आदमी सिद्ध कर रहे हो जैसे कि मरने के पहले चिट्ठी उड़ने लगती है। अभी भारत की वैशिक स्तर पर क्या छवि है? इसके बारे में T.V. एवं पत्र-पत्रिकाओं में पढ़कर – सुनकर आप लोगों को शर्म/लाज आनी चाहिये। आप लोग

तो और भी निर्लज्ज होकर हर क्षेत्र में हर प्रकार गन्दे – खोटे –छोटे काम करके स्वयं को महान् सिद्ध कर रहे हो। इसलिये तो कहा जाता है—“सौ में नब्बे बेइमान तो भी भारत महान्”
किन्तु मेरा जो अनुसन्धान है उसके अनुसार तो —
“सौ में निन्यानवे बेइमान तो भी भारत महान्”

मेरी दृष्टि में एक अंश जो भारत महान् है उसका कारण है भारत की महान् संस्कृति, सभ्यता, भाषा, आध्यात्मिकता तथा उसे दिल-दिमाग से जानने वाले, मानने वाले, आचरण करने वाले कुछ ही सज्जन महानुभाव है। इन कारणों से अभी भी भारत विश्वगुरु, विश्व शक्ति बनने की योग्यता रखता है। भारत रूपी विशाल बरगद के ऊपर की शाखा—प्रशाखायें टूट गई हैं—तथापि जमीन की गहराई में जो जड़े जीवित रूप में जमी हुई है उसे सींचने पर पुनः शाखा—प्रशाखायें निकलकर विशाल वृक्ष बन सकता है। यह सींचने का काम आप लोगों को ही स्वेच्छा से शीघ्रता से करना है। इसलिये मैंने यह कडवा पत्र लिख रहा हूँ। यदि आप लोग इस कडवा पत्र से भी संचेत होकर अपना पवित्र कर्तव्य स्वेच्छा से करोंगे तो मेरा लिखना सार्थक होगा। भले भाषा में कडवाहट है परन्तु भाव में तो मिठास ही मिठास है। अधिक क्या लिखूँ कडवी कुइनाइन की दवा तो कम ही होती है। इस दवा को अवश्य खाकर स्वस्थ, सबल, ज्ञानी, ध्यानी, स्व-पर-विश्वकल्याणकारी बनना ऐसी शुभभावनाओं के साथ शुभाशीर्वाद।

आचार्य कनकनन्दी

दिनांक 23–10–2010, रविवार द्वि. वैशाख शुक्ल. 10

दोपहर 2.30 बजे, नवाडेरा, ढूंगरपुर (राज.)

अन्तरंग - सफलता के सूत्र

आचार्य कनकनन्दी जी जिस प्रकार कि मद्यव्यसनी मद्य से सुख मानता है उसी प्रकार अन्यान्य व्यसनी उन–उन व्यसनों से, अहंकारी अहंकार से, फैशनी फैशनों से, लोभी लोभ से, मायाचारी माया (कुट-कपट) से, आतंकवादी आतंक से, परिग्रही परिग्रह से, पापी पाप से, सुख मानता है परन्तु इन सब से यदि कोई दुःख अनुभव करता है तो वह इन सब से दूर हो जायेगा, तथापि मद्य से मोहित मानव जैसा कि मद्य को चाहता है, वैसा ही व्यसन तथा कषाय से मोहित जीव व्यसन और कषाय चाहता है।

विभिन्न जीवों के सीखने के माध्यम

—आचार्य कनकनन्दी

ज्ञानीजन विवेक से, साधारणजन अनुभव से, अज्ञानीजन आवश्यकता से और पशु स्वभाव से सीखते हैं। (चाणक्य)

अर्थात् ज्ञानीजन स्वहिताहित प्रज्ञारूपी विवेक से सीखते हैं, जैसे कि रेडियम, सूर्य आदि स्व प्रकाश से स्वयं को प्रकाशित करते हैं तथा दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं। साधारणजन में कम विवेक होने से वे सुधटणा, दुर्घटणा, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि को झेलने के बाद सीख पाते हैं। उसके पहले स्व विवेक से ज्ञानीजन के समान नहीं सीख पाते हैं, अज्ञानीजन अपनी आवश्यकता यथा—भूख-प्यास, पीड़ा, सुख-दुःख, सर्दी—गर्मी, रोग, स्वार्थसिद्धि, इच्छा, कामना, तृष्णा, मोह, लोभ, काम—भोग, विलासिता की चाह, शत्रु से बदला लेना आदि से सीखता है अन्यथा विवेक या अनुभव से नहीं। पशु स्वभाव से अर्थात् जन्मजात प्रकृति से सीखते हैं। जैसा कि शाकाहारी पशुओं का शाकाहार, जलचरों का जल में, स्थलचरों का स्थल में, नम्भरों (पक्षी) का नम्भ में विचरण करना, पक्षियों का अण्डों को सेकना, स्तन्यपायी पशुओं का स्तन्यपान आदि कर्मजनित जन्मजात स्वभाव हैं।

ज्ञानीजन स्वविवेक से सीखने के कारण वे अनुभव, आवश्यकता, स्वभाव के बिना भी सीख जाते हैं। ऐसे व्यक्ति को उत्तमशिष्य, प्रज्ञाशील कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति महान् होते हैं परन्तु इनकी संख्या कम होती है। साधारण व्यक्ति तो नदी के पत्थर के समान बहुत वर्षों में धिस-धिसकर गोल-मटोल-चिकने होते हैं; तब तक तो ज्ञानी बहुत अधिक सीख जाता है। अज्ञानी तो स्व-स्वार्थ की पूर्ति/आवश्यकता के अनुसार सीखता है। इसलिए ऐसे व्यक्ति सत्य, तथ्य, उपादेय आदि जीवन विकास के महत्वपूर्ण विषयों से वंचित ही रहता है। पशु तो आहार, प्राणरक्षा, प्रजनन, निद्रा आदि से आवेशित होकर सीखते हैं। कहा गया है कि जो केवल गुरु के अभिप्राय से सीख लेता है वह उत्तम शिष्य है, जो एक बार सिखाने पर सीखता है वह मध्यम शिष्य है, जो बार-बार सिखाने पर सीखता है वह कुशिष्य है। उपर्युक्त दृष्टि से ज्ञानीजनों से साधारण, साधारणजनों से अज्ञानीजन तथा पशुवत् जीवन जीने वाले मानव की संख्या उत्तरोत्तर अधिक से अधिक है।

जीवन्त प्रायोगिक पाठशाला

(स्व-पर की कमी, गलती एवं दुर्घटना से मुझे प्राप्त शिक्षाएँ)

—आचार्य कनकनन्दी

ज्ञान—ज्ञेय सम्बन्ध के अनुसार ज्ञान (देखने—जानने की चेतना—शक्ति) ज्ञेय (जानने योग्य समस्त द्रव्य) प्रमाण है। अर्थात् ज्ञान की प्रवृत्ति ज्ञेय में होती है। ज्ञेय को जानना ज्ञान का स्वभाव है। जैसा कि दर्पण में प्रतिबिम्ब। दर्पण में प्रतिबिम्बित करने की क्षमता है तो जिस वस्तु में प्रतिबिम्बित होने की क्षमता है उस वस्तु का ही प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ेगा। यदि दर्पण समतल एवं स्वच्छ है तो प्रतिबिम्ब सही असमतल एवं अस्वच्छ है तो प्रतिबिम्ब सही नहीं पड़ेगा। ऐसी ही यदि स्वयं में कोई दोष एवं गलती है तो शिक्षा भी सही आत्मसात् नहीं होती है। स्वच्छ दर्पण से अपने चेहरे की मलिनता को देखकर उसे दूर कर सकते हैं, ऐसा ही हमारा भाव रूपी दर्पण यदि समतल एवं स्वच्छ है तो अपनी तथा दूसरों की कमी एवं गलती को अनुभव करके उसे दूर कर सकते हैं। कमियों—गलतियों को दूर करना तथा सच्चा—अच्छा को ग्रहण करना ही यथार्थ से शिक्षा/विद्या है। यथा—“हिताहितप्राप्तिपरिहार समर्थः प्रमाणं तज्ज्ञानमेव” अर्थात् हित को ग्रहण करना तथा अहित को त्याग करना ही यथार्थ से सही ज्ञान है और ऐसा ज्ञान ही प्रमाण है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान पूर्णतः प्राचीन से लेकर अभी तक देश—विदेशों के कोई भी ग्रंथ में या सम्पूर्ण ग्रंथों में भी लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान तो ब्रह्माण्ड से ही प्राप्त कर सकते हैं।

देश—विदेशों के प्राचीन से लेकर आधुनिक महापुरुष तक भी पाठशाला से भी अधिक शिक्षाएँ प्रकृति, स्व—पर की कमी एवं गलतियों से प्राप्त की हैं। महात्मा बुद्ध को बृद्ध, रोगी, शव, सन्यासी को देखकर वैराग्य हुआ तो अधिकांश तीर्थकरों को भी ऐसी घटणाओं से वैराग्य (आत्म—कल्याण की प्रेरणा—शिक्षा) उत्पन्न हुआ। यथा श्री आदिनाथ को नीलाजंना की मृत्यु (2) श्री अजितनाथ को बिजली नष्ट (उल्कापात) (3) श्री सम्भवनाथ को बादलों का नष्ट (4) श्री अभिनन्दननाथ को बादलों का नष्ट (5) श्री सुमितनाथ को बादलों का नष्ट (6) श्री पदम प्रभु को हाथी की दशा सुनकर (7) श्री सुपार्श्वनाथ को बादलों का नष्ट (8) श्री चन्द्रप्रभु को दर्पण में मुख देखकर

(बिजली विनाश) (9) श्री पुष्पदन्त को उल्कापात (10) श्री शीतलनाथ को मेघों का विघटन (ओस बून्द गलन) (11) श्री श्रेयांसनाथ को वसन्त ऋतु परिवर्तन (12) श्री वासुपूज्य को मेघों का विघटन (जातिस्मरण) (13) श्री विमलनाथ को मेघ विनाश (बर्फ का नष्ट) (14) श्री अनन्तनाथ को उल्कापात (15) श्री धर्मनाथ को उल्कापात (16) श्री शान्तिनाथ को दर्पण में मुख देखना (जातिस्मरण) उल्कापात (17) श्री कुन्थुनाथ को साधु को आतापन योग में देखकर (जाति स्मरण उल्कापात) (18) श्री अरहनाथ को मेघों का विघटन (19) श्री मलिनाथ को स्व-विवाह की तैयारी (बिजली विनाश, उल्कापात) (20) श्री मुनिसुव्रतनाथ को पूर्वभव स्मरण (उल्कापात) (21) श्री नमिनाथ को देवों की बात सुनकर (उल्कापात) (22) श्री नेमीनाथ को स्व-विवाह निमित्त पशुहत्या एवं मांसभक्षण (23) श्री पार्श्वनाथ को जातिस्मरण तथा (24) श्री महावीर को जातिस्मरण से वैराग्य हुआ। भागवत-पुराण में वर्णन है कि ज्ञानी अवधूत/परमहंस के 24 गुरु अग्रलिखित थे। यथा—1. पृथ्वी 2. वायु 3. आकाश 4. जल 5. अग्नि 6. चन्द्रमा 7. सूर्य 8. कबूतर 9. अजगर 10. समुद्र 11. पतंग 12. भौंरा या मधुमक्खी 13. हाथी 14. शहद निकालने वाला 15. हरिण 16. मछली 17. पिंगला वैश्या 18. कुरर पक्षी 19. बालक 20. कुँआरी कन्या 21. बाण बनाने वाला 22. सर्प 23. मकड़ी 24. भृंगीकीट। ऐसा ही अधिकांश वैज्ञानिक सिद्धान्त, उपकरण प्रकृति के अध्ययन से ही निर्मित है। चित्रकार, कवि, मूर्तिकार आदि भी प्रकृति से प्रेरित होते हैं। मैंने भी बाल्यकाल से अभी तक और जब तक सर्वज्ञ न बन जाऊँ तब तक लौकिक गुरु तथा साहित्य, धार्मिक गुरु एवं ग्रंथ के साथ-साथ स्व-पर की कमी, गलती एवं दुर्घटना से भी शिक्षा प्राप्त की है अभी भी कर रहा हूँ तथा आगे भी करता रहूँगा। मेरा स्वयं का दीर्घ अनुभव है कि जितनी शिक्षाएँ स्व-पर की सच्चाई, अच्छाई एवं सुघटना से प्राप्त होती है उससे भी अधिक शिक्षाएँ स्व-पर की कमी, गलती तथा दुर्घटना से प्राप्त होती है जो प्रभावशाली और दीर्घकाल स्थायी होती है। अग्नि के बारे में सुनने पढ़ने से अग्नि की दाहकता के बारे में जितना ज्ञान होता है तथा अग्नि से सुरक्षित रहने की प्रवृत्ति होती है उससे भी अधिक ज्ञान एवं प्रवृत्ति अग्नि से एक बार जलने से हो जाती है। क्योंकि यह ज्ञान अनुभवात्मक एवं पीड़ाकारक प्रक्रिया से प्राप्त होता है। इसलिए यह ज्ञान मन की गहराई-अवचेतन मन में बैठ जाता है। केवल पुस्तकीय रटन्त ज्ञान में यह सब विशेषताएँ नहीं होती है। कहा भी है—

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करें, तो दुःख काहे को होय॥

“आर्तनारा धर्मपरा भवन्ति” अर्थात् दुःखी जीव दुःख से नरक में भी सम्यक्त्व उत्पत्ति के लिए वेदनानुभव भी एक कारण बनता है। भोग भूमि में सुख ही सुख होने के कारण तथा दुर्घटणाएँ भी नहीं होने से वहाँ सम्यक्त्व की प्राप्ति तथा धर्माचरण—मोक्षमार्ग प्रवर्तन नहीं होता है; कोई साधु बनकर मोक्ष प्राप्त नहीं करता है भले शरीर स्वस्थ्य-सबल भी होता है, कठोर-क्रूर-विपरीत परिस्थितियाँ नहीं होती हैं। इससे विपरीत दुःखमा—सुखमा काल में भोगभूमि के समान शरीर, साधन, वातावरण सुखमय न होकर दुःख मिश्रित हो जाता है तथापि धर्माचरण, मोक्षमार्ग प्रवर्तन होता है। यह लेख लिखने के लिए भी मेरे कान की पीड़ा कारण बनी। मेरे कान में संभवतः गरमी के कारण फुन्सी से खून निकला तब मैंने दोनों कानों में अपूर्ण ज्ञान के कारण अधिक मात्रा में बिल्व तैल डाल दिया जिसके कारण दोनों कानों में जलन एवं पीड़ा हुई। मैंने जब वैद्य से ज्ञात किया कि बिल्व तैल 1-2 बूंद डालना चाहिए तब मैंने मेरे विभिन्न ज्ञान एवं अनुभव से अनुमान तर्क से समझा कि मेरी गलती से जो अधिक मात्रा में कान में तेल डाला उससे ही यह पीड़ा है। तब मैं मेरे अनुमान के अनुसार इस तैल को फिर नहीं डाला अपितु उसे, कान से रुई आदि के द्वारा कम किया तथा सोफ्रामायसिन क्रीम लगाया। इससे एकाध घण्टा में दर्द कम होने लगा। वैद्यजी के इस कथन को भी मैंने मेरे अनुभव के अनुसार अस्वीकार करके कान में पुनः तेल डालना बन्द कर दिया; यदि डालता तो पीड़ा और बढ़ जाती। इससे सिद्ध होता है कि स्वयं का सच्चा अनुभव दूसरों की बातों से भी श्रेष्ठ होता है। यह दुर्घटना/पीड़ा इसलिए हुई क्योंकि इसके पहले मेरे कानों में ऐसी समस्या नहीं हुई थी और ऐसी औषधि का प्रयोग कभी भी नहीं किया था। मैंने सामान्य तैल जिस प्रकार कि बाल्यकाल से डालता रहा हूँ वैसा ही अधिक मात्रा में डाल दिया। सम्भवतः इस तैल में कान के दर्द कम करने के लिए काली मिर्च आदि कोई तेज/उष्णकारक चीज डाली हो। इससे मैंने शिक्षा ली कि औषधि, भोजन, साधन, शक्ति, तप, त्याग, विहार, निद्रा, विश्राम, वचन, आदि का प्रयोग योग्य मात्रा में ही गुणकारी है, अयोग्य मात्रा या अधिक मात्रा अहितकारी है। कहा भी है— “अति सर्वत्र वर्जयेत्” अर्थात् अति को सर्वत्र त्याग करना

चाहिए। इसलिए आगे हर कार्य सोच-विचार कर पूर्णज्ञान से निर्णय लेकर करलूँगा; जिससे समस्या उत्पन्न होती है उससे दूर रहूँगा। आगे स्व-पर की कमी, गलती एवं दुर्घटना से मुझे प्राप्त शिक्षाओं के बारे में संक्षिप्त प्रकाश डालूँगा जिससे मैं स्वयं शिक्षा प्राप्त करते हुए सतर्क रहकर विचार — व्यवहार — आहार आदि करलूँगा। इसके साथ—साथ मेरे इन अनुभवों से दूसरे भी गुणग्राही, प्रगतिशील, सुखेच्छुक महानुभाव शिक्षा प्राप्त करके विकास करेंगे एवं सुखी होंगे और वे भी दूसरों के लिए ऐसे आदर्श की स्थापना करेंगे। इन सब उद्देश्य से प्रेरित होकर यह सब लिख रहा हूँ।

(1) स्व-स्वभाव की कमी-गलती से घटित दुर्घटणा से प्राप्त शिक्षाएँ

आचार्य विमलसागरजी गुरुदेव प्रायः कहा करते थे — “व्यक्ति ठोकर से ठाकुर बनता है।” कोई भी गलती, समस्या, दुर्घटणा आदि से मैं बाल्यकाल से शिक्षा लेकर स्वयं को सुधार करता रहा हूँ। मैं बाल्य विद्यार्थी अवस्था में हमारे घर के आस-पास भी विभिन्न प्रकार के वृक्ष लगाया करता था। घर के सामने भी नारियल के वृक्ष लगाया था। एक दिन जब मैं (10–12 वर्ष का था) शाम को स्कूल से घर आया तो देखा कि एक नारियल के वृक्ष के ऊपर बहुत सारी मिट्टी किसी ने डाल दी थी। मैं दुःख मिश्रित क्रोध से बोलता रहा, कि मुझे बिना पूछे किसने मिट्टी डाली है? मेरे पिताजी शान्त भाव से सुनते रहे और अन्त में बोले मैंने ही डाली है। इतना सुनते ही मुझे बहुत ही पश्चाताप एवं दुःख हुआ कि मैंने बिना समझे ऐसा भाव — व्यवहार वचन प्रयोग करता रहा। मैं घण्टों रोता रहा और बिना भोजन किये ही रोते—रोते सो गया। उसके बाद इससे शिक्षा ली कि मैं बिना सोच-विचारे निर्णय लिए, दुःखी होकर या क्रोधित होकर किसी के प्रति भी खोटा भाव — व्यवहार — कथन नहीं करलूँगा। तभी से अभी तक प्रायः 45–47 वर्षों से न क्रोध करता हूँ न ही सत्य — असत्य को जाने बिना कुछ निर्णय लेता हूँ, न ही कुछ कहता हूँ अथवा न ही कुछ लिखता हूँ। मेरी इस कमी, गलती, दुर्घटणा ने तथा पिताजी के शान्त, गम्भीर क्षमा भाव—व्यवहार एवं कथन ने मेरा जो परिवर्तन किया है वैसा परिवर्तन किसी भी लौकिक या धार्मिक गुरु अथवा साहित्यों ने नहीं कर पाया है। इसका मतलब यह नहीं है कि इन सबका महत्व कम है या मैं उनका उपकार भूलता हूँ। इसके साथ—साथ यह भी नहीं है कि मैं असत्य, अन्याय,

प्रष्टाचार, पापाचार आदि कों स्वीकार करता हूँ या इनके सामने झुक जाता हूँ। सनप्र सत्यग्राहिता, निर्भीकता, शान्त—शालीनता—तेजस्विता मर्यादा में रहकर इन सबको नकारता हूँ, लेखन — प्रवचन — चर्चा — चर्चा से इन सबका परिशोधन / संशोधन / निवारण करता रहता हूँ।

विद्यार्थी काल में जब मैं (17–18 वर्ष आयु में) भ्रमण के दौर में पुरी के समुद्र में तैरने के लिए गया और कुछ समय तक तो समुद्र में तैरता रहा और लहरें आने पर झुक जाता था तब लहरें मेरे शरीर के ऊपर से निकल जाती थी और मैं तैरता रहता था। फिर मैंने मेरी परीक्षा प्रधानी प्रवृत्ति के कारण सीधा तनकर खड़े होकर लहरों का सामना किया। इसके कारण लहरों ने मुझे उठाकर फैक दिया जिससे मेरे एक—दो दाँत ओढ़ में गड़ गए और खून बहने लगा। इसी प्रकार जब ब्रह्मचारी अवस्था में बुन्देलखण्ड की यात्रा में मन्दिर में प्रवेश करता था तब मेरे शरीर की अधिक लम्बाई एवं वहाँ के मन्दिर के द्वार की कम लम्बाई (ऊँचाई) के कारण मेरे शिर द्वार से टकराते थे। इन घटणाओं से मैंने शिक्षा ली कि जीवन रूपी समुद्र में तैरकर आगे बढ़ना है या शरीर रूपी मन्दिर में निवास करने वाला स्व-भगवान् आत्मा का सामीप्य प्राप्त करना है तो सनप्र सत्यग्राही, विनम्र, मृदु, लचीला, समायोजनशील, व्यवहार कुशल बनना अनिवार्य है। इन सब गुणों को मैं तब से जीवन में अपनाकर और भी वृद्धि कर रहा हूँ।

(2) स्वव्यवहार की कमी - गलती से घटित दुर्घटणा से प्राप्त शिक्षाएँ -

मैं बाल्यकाल से ही उत्साही, स्फूर्तीमान्, सत्साहसी, कर्तव्यशील रहा हूँ। मैं प्रायः 10 – 12 वर्ष की आयु तक तो चलता नहीं था केवल दौड़कर जाता आता था तथापि न मैं गिरता था, न ही चोट लगती थी। हमारे परिवार में कोई गिर जाता था या किसी को चोट लग जाती थी तो मैं कहता था — आप लोग सावधानता से चलते नहीं हो, काम नहीं करते हो, इसलिए ऐसा होता है। देखो मैं सावधानता से काम करता हूँ चलता हूँ दौड़ता हूँ इसलिए मुझे ऐसा नहीं होता है। जब मैं एक दिन (9–10 वर्ष की आयु में) स्कूल से घर में आया तब वर्षा आने लगी। मैं वृक्षों की चारों ओर मिट्टी की बाढ़ लगाकर पानी रोकने के लिए जल्दी दौड़ा तो मेरी पैर की अंगुली में चोट लगी और खून बहने लगा। मेरा बड़ा भाई मुझे कहने लगा कि ‘देखो तुम बोलते हो — मैं सावधानता से काम करता हूँ इसलिए मुझे चोट नहीं लगती

“फिर आज क्यों लगी।” इसके बाद मैं हर काम पहले से भी अधिक विवेक पूर्वक सावधानता से कर रहा हूँ। तबसे मुझे प्रायः कोई भी कार्य में किसी प्रकार की समस्याएँ / बाधाएँ उत्पन्न नहीं होती है। मेरी चिन्तन प्रक्रिया, निर्णय लेने की क्षमता, समझने एवं समझाने की योग्यता कमियों एवं गलतियों को समझाने की और उसे सुधारने की दक्षता, इन्द्रियाँ तथा शरीर की कार्यक्षमता अधिक होने से तथा समयानुबद्धता – अनुशासन में मैं दक्ष होने से प्रायः मैं दूसरों से कोई भी कार्य शीघ्रता से करता हूँ, परन्तु यह मेरी जल्दबाजी – हड्डबड़ी – गड़बड़ी नहीं है।

जब मैं सम्भवतः 5–6 वर्ष का था तब एक अंजान तालाब में छूबने लगा था। तब मेरे पिताजी ने मुझे ऊपर लाया। उसके बाद तो मैं तैरना सीखने लगा तो अनेक पद्धति से घण्टों तैरने लगा। इससे मुझे शिक्षा मिली कि किसी भी अंजान विषय (ज्ञान–विज्ञान) या कार्य को सही रूप में सीखो, प्रयोग में लाओ तब उस सम्बन्धी समस्या उत्पन्न नहीं होगी। तब से अभी तक विभिन्न क्षेत्र, कार्य, भाषा, विषय, ज्ञान–विज्ञान को सीख रहा हूँ तथा आगे भी सीखता रहूँगा। इसके फलस्वरूप अभी तक मेरे 186 ग्रंथ प्रकाशित हो गये हैं, 32 शिविर, 11 संगोष्ठी, हजारों कक्षायें आयोजित हो गये हैं, विश्वविद्यालयों से लेकर विदेशों में मेरे शिष्यों–भक्तों के द्वारा धर्म–ज्ञान–विज्ञान का प्रचार–प्रसार हो रहा है।

(3) स्व-आहार सम्बन्धी कभी - गलती से घटित दुर्घटणा से प्राप्त शिक्षाएँ -

मैं तृतीय कक्ष में “भारतीय भोजन पद्धति एवं विज्ञान” से सम्बन्धी पुस्तक का अध्ययन किया था। इसके बाद तो आयुर्वेद, स्वास्थ्य, भोजन, औषधि सम्बन्धी विभिन्न लेख, साहित्य पढ़ते आ रहा हूँ। इसके साथ–साथ विज्ञान का विद्यार्थी होने से तथा विज्ञान में रुचि एवं ज्ञान होने से बाल्यकाल से ही मैं योग्य स्वास्थ्यप्रद, बुद्धिवर्धक दूध, फल, हरी सब्जी आदि का ही अधिक भोजन कर रहा हूँ तथा इससे विपरीत भोजन कम से कम करता हूँ या नहीं करता हूँ। इसलिए भी मेरा स्वास्थ्य बाल्यकाल से अच्छा रहा है। क्षुल्लक बनने के बाद परावलम्बित आहार होने के कारण हर समय योग्य भोजन मिलना संभव नहीं हो पा रहा है। जब भी अयोग्य भोजन, अधकच्चा भोजन, अयोग्य पद्धति से दिया जाता है तब इससे भी स्वास्थ्य खराब होता है; तब तब इससे भी मैं शिक्षा ग्रहण करके आगे

सुधार करता रहता हूँ। मेरी भोजन सम्बन्धी कुछ प्रसिद्ध रोग के बारे में संक्षिप्त में प्रकाश डाल रहा हूँ।

जब हमारा संघ मुक्तागिरी में संभवतः 1980 में गरमी के समय था तब एक दिन स्वाध्याय के समय में भी मुझे (क्षुल्लक अवस्था में) बार–बार निद्रा आने लगी। प्रायः मुझे कभी भी स्वाध्याय में निद्रा नहीं आती है। तब मैंने मेरी कमी–गलती के बारे में सोचने लगा तब मुझे ज्ञात हुआ कि दही एवं ककड़ी की रायता खाने से निद्रा आई। तब मैं दही तथा दही रायता खाना त्याग कर दिया। जब हमारा संघ 1981 के श्रवण बेलगोला के महामस्तकाभिषेक के लिए विहार कर रहा था तब बेलगाँव शहर के पहले एक ग्राम में आहार हुआ। चौका में केवल रोटी, भात, मूँगफली की चटनी, ग्वारफली की सब्जी थी। मुझे विवशतावश यह सब खाना पड़ा। सुबह मैं पैदल नहीं चल पाया। घुटनों में भयंकर दर्द एवं सूजन थी। क्षुल्लक होने के कारण विवशता से, अपवाद में एक ठेलानुमा रिक्षा में विहार करना पड़ा। यह दर्द एवं सूजन प्रायः 5–6 महीना तक रही। श्रवण बेलगोला में आचार्य विद्यानन्दजी के प्रवास स्थल पर प्रायः 50–60 आचार्य, उपाध्याय, साधु, आर्थिका तथा 4–5 पण्डितों के समूह के मध्य में न्यायदीपिका, वृहत् द्रव्यसंग्रह, समयसार का स्वाध्याय चलता था। कुछ समय तक मैं वहाँ भी छुल्लक अवस्था में था। बाद में वहाँ ही 4–5 आचार्य, 100 – 125 साधु – साधियाँ एवं हजारों श्रद्धालुओं के मध्य में हमारी श्रमण दीक्षा हुई। घुटनों के दर्द के कारण पालथी मारकर अधिक समय बैठना संभव नहीं हो पाता था। मेरी स्वाध्याय में रुचि, जिज्ञासा, नम्रता, शालीनता, अनुशासनप्रियता के कारण मुझे स्वाध्याय में केवल आगे नहीं बैठाते थे अपितु दर्द होने पर पैर को फैलाकर (दूसरों का अविनय न हो ऐसा) बैठने के लिए भी बड़े आचार्य, उपाध्याय, साधुओं का आदेश/निर्देश था। जबसे पैर में दर्द हुआ तबसे इसका कारण पता लगाकर ग्वारफली, मूँगफली की चटनी खाना त्याग कर दिया। ऐसा ही गैसकारक, वादीकारक, पित्तकारक, रोगकारक, निद्राकारक, बुद्धिमन्दकारक, उत्तेजनाकारक भोजन यथा – मटर, बेसन, चौला, उड्ढ, कद्दू, मसूर, मक्का, मट्ठा, मिर्ची (लाल), टिंडुरी, तेल, गुड़, सेंगरी, खट्टा फल, खट्टा रस, आमचूर, इमली, बाटी, अधकच्चा अधपका रोटी – दाल – भात – सब्जी – नमकीन – पकौड़ी – हलवा – मिठाई – गैस से बना हुआ हर प्रकार का भोजन आदि का त्याग कर दिया/भोजन में आने पर नहीं लेता

हूँ। मैंने इन सब से अनेक निम्नोक्त शिक्षाएँ प्राप्त की। यथा –
(1) प्राचीन आचार्यों ने जो भोजन सम्बन्धी गुण–दोष, अनुक्रम, अनुपान आदि बताया है वे प्रायः अनुभव से सही सिद्ध होते हैं।
(2) आहार का प्रभाव शरीर, मन, बुद्धि, भावना, व्यवहार, स्वास्थ्य के ऊपर पड़ता है। (3) भारत के अधिकांश लोगों (शिक्षित – अशिक्षित – धार्मिक – अधार्मिक, ग्रामीण–शहरी, छोटे – बड़े, गृहस्थ से लेकर साधु – आचार्य तक) को भोजन, ज्ञान, आहार, चिकित्सा, आयुर्वेदज्ञान, पथ्य – अपथ्य, भोजन क्रम – अक्रम, अनुपान, प्राकृतिक – चिकित्सा आदि का ज्ञान, आचरण, अनुभव नहीं है। रोगी होने का यह भी एक कारण है। यह सब मुझे ज्ञान होने के कारण मैं 1992 में (1) आदर्श – विचार – आहार – विहार, 2005 में शारीरिक – मानसिक – आध्यात्मिक स्वास्थ्य के विविध आयाम आदि की रचना की है एवं ख्याल एवं पर संघ के आचार्य, साधु, आर्थिका आदि को एवं विद्यार्थी से लेकर गृहस्थों को भी पढ़ाता हूँ। मुझे विद्यार्थी अवस्था से ही यह सब ज्ञान ग्रन्थों से तो सामान्य रूप में था। परन्तु अयोग्य भोजन से, स्वास्थ्य खराब होने के कारण ज्ञान में परिपक्वता आई। स्वास्थ्य खराब होने से मैं और भी अधिक आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा आदि के ग्रन्थों का अध्ययन किया और अभी भी कर रहा हूँ। इन सब कारणों से अनाजों में से केवल चावल, गेहूँ लेता हूँ, दालों में से केवल मूँग की दाल लेता हूँ, सब्जियों में से कच्चे केले, लोकी, परवल, टिंडसी, शिमला मिर्ची, तरंकड़ी आदि लेता हूँ, फलों में से पके मीठे केले, पके आम, सेव, चीकू, अंगूर, कच्चा नारियल आदि लेता हूँ। विशेषता गाय का दूध, धी, कम शक्कर, कम नमक लेता हूँ। मेवा में से बादाम, किशमिस, अखरोट, मनुकका, छुहारा, पिण्ड खजूर, पिस्ता, तिलगुजा, जरदालू आदि लेता हूँ; पेय में ठण्डाई, नारियल पानी, लौकी जूस, तरककड़ी का जूस, मीठा पका पायनिप्पल का जूस, मीठा आम रस जल जीरा आदि लेता हूँ। भोजन में पूड़ी, पराठा, भात, खिचड़ी हलुआ, सब्जी आदि लेता हूँ।

(4) विहार पद्धति की कमी - गलती से घटित समस्या रे प्राप्त शिक्षाएँ -

विहार (यात्रा, धूमना, पर्यटन) से ज्ञान, अनुभव, स्वास्थ्य आदि लाभ होते हैं परन्तु अयोग्य विहार से इन गुणों से विपरीत समस्या, कष्ट, रोग आदि होते हैं। शक्ति से अधिक, विपरीत परिस्थिति – वातावरण में या अनुशासनहीनता (यातायात के नियम – कानून)

के उल्लंघन) से उपर्युक्त समस्याएँ आदि होती हैं। साधु अवस्था में नग्न शरीर, नंगा पैर, एक बार आहार, अन्तराय, उपवास आदि में अधिक विहार करना, अस्वास्थ्यकर भी है। हमारे मूल बड़ा संघ में जब लम्बी यात्रा होती थी तब पैर सूज जाते थे, तलवा धिस जाने से खून नहीं हो पाते थे, इन सब कारणों से मूलसंघ से पृथक होने के बाद योग्य ऋतु (समशीतोष्ण ऋतु) योग्य समय प्रातःकाल, मध्याह्न के बाद जिस समय ज्यादा सर्दी, गर्मी, वर्षा नहीं रहती है एवं सूर्य प्रकाश पर्याप्त रहता है उस समय में जीवों को बचाते हुए प्रासुक रास्ता में महान् उद्देश्य के लिए विहार करना चाहिए। कभी-कभी गृहस्थ शार्टकट के लिए रास्ता बता देते हैं जो कभी-कभी लम्बा भी पड़ता है। कांटे, कंकर, पानी, हरी धास, जीव-जन्तु भी होते हैं इसलिए सही निर्णय होने के बाद ही विहार करना चाहिए। मैंने कुछ कटुअनुभव भी किया है कि श्रावक पंचकल्याणक, वेदी प्रतिष्ठा, विधान के लिए साधु से आग्रहपूर्वक वचन ले लेते हैं परन्तु विहार-आहार की समुचित व्यवस्था नहीं करते हैं यहाँ तक कि साधु को वचन देने के बाद दर्शन करने तक नहीं आते हैं। कार्यक्रम या स्वार्थपूर्ति होने के बाद और भी अधिक लापरवाह हो जाते हैं। इन सब कारणों से विशेषतः इन सब कार्यों में बहुत कम जाता हूँ, कम भाग लेता हूँ। इन सब कारणों से इमें कम विहार करना पड़ता है, कम समस्या झेलनी पड़ती है, श्रावकों के आश्रित कम होना पड़ता है, समय, शक्ति, श्रम बच जाता है जिसका सदुपयोग हम अध्ययन, अध्यापन, लेखन, स्वाध्याय, शिविर, संगोष्ठी, देश – विदेश में धर्म प्रचार के लिए कर रहे हैं किन्तु स्वास्थ्य लाभ के लिए तथा प्रतिष्ठापन समिति रूप मूलगुण के पालनार्थे हम यहाँ भी ग्राम-नगर में रहते हैं, प्राकृतिक, स्वच्छ, एकान्त स्थान में ग्राम नगर से 2-3 कि.मी. दूर भी जाते हैं। किसी विशेष परिस्थिति के बिना कृत्रिम व्यवस्था में शौच नहीं जाते हैं जिससे हम रोज 5-6 कि.मी. से लेकर 8-10 कि.मी. रोज विहार करते हैं जिससे वास्थलाभ, प्रकृति का ज्ञान, प्रतिष्ठापन समिति का पालन हो जाता है एवं दूसरों के द्वारा शौच साफ करने की समस्या कम होती है। अभी तक अनेक साधु-सन्त, आचार्य, माताजी विहार की सही पद्धति के बिना समस्या झेलते हैं, रोगी होते हैं, दुर्घटनाग्रस्त होते हैं, यहाँ तक कि इन सब कारणों से मृत्यु तक हो जाती है। इन सबसे शिक्षा लेकर तो सुधार कर लिया है एवं कर रहा हूँ और दूसरों को भी सुधार रना विदेय है।

(5) अयोग्य निवास की समस्याओं से प्राप्त शिक्षाएँ -

वैसे तो मैं बाल्यकाल से प्रदूषण रहित स्वच्छ, शान्त, समशीलतोष्णि, प्रकाश एवं हवायुक्त एकान्त स्थान में निवास करता आ रहा हूँ तथापि साधु जीवन के अनियत विहार – निवास के कारण अनेक बार नगर में निवास करना पड़ा है। जिस नगर (बिलगाम, दिल्ली, कोटा) में उपयुक्त वातावरण नहीं मिले, सुबह – शाम नगर के बाहर स्वच्छ जगह में शौच जाने एवं भ्रमण करने की सुविधा नहीं होने के कारण मेरा स्वास्थ्य 3–4 महीनों तक खराब रहा जिससे अध्ययन, अध्यापन, साहित्य लेखन भी कम हो पाए। इन सब अनुभवों से अभी 14–15 वर्षों से उपरोक्त योग्य वातावरण में ही निवास करने की पूर्ण कोशिश कर रहा हूँ। मैंने अनुभव किया अनेक ग्राम–नगर में अयोग्य निवास में गृहस्थ लोग साधुओं को प्रवास करने के लिए कहते हैं भले कुछ ग्राम–नगर में अच्छे निवास ही क्यों न हो। यदि कोई साधु वर्षा या शीत ऋतु में कोई निवास में प्रवास किया हो तो ग्रीष्म ऋतु में वहाँ आने वाले साधुओं के लिए भी वही निवास में प्रवास करने के लिए कहेंगे भले अन्य ग्रीष्म ऋतु योग्य निवास क्यों नहीं हो। अनेक साधु गृहस्थों के कहने के अनुसार अयोग्य स्थान में भी प्रवास कर लेते हैं जिससे स्वास्थ्य खराब रहता है, ध्यान, अध्ययन, लेखन, विश्राम, शयन आदि में बाधा पहुँचती है। इसलिए 4 प्रकार के दानों में से योग्य वसतिकादान (निवास – स्थान दान को भी उत्तम दान में गर्भित किया गया है जो कि उपरोक्त गुणों से युक्त हो)। इन सब कारण एवं अनुभव से मैं योग्य वसतिका में ही निवास करता हूँ। अन्यथा अधिक दिन प्रवास न करके वहाँ से विहार कर लेता हूँ।

(6) व्यक्ति- समाज - राष्ट्र की कमी, गलती से प्राप्त शिक्षाएँ -

अच्छे सज्जनोचित व्यक्तित्व से युक्त मानव को मैं इस सन्दर्भ में व्यक्ति विशेषण से सम्बोधित किया है। ऐसे ही व्यक्तियों के समूह जो परस्पर प्रेम–सहयोग से सहअस्तित्व में रहते हैं उसे मैं यहाँ 'समाज' में गर्भित किया हूँ। ऐसे ही समाज का समूह जो विशाल भौगोलिक भूखण्ड में रहते हैं उसे मैं 'राष्ट्र' रूप से मानता हूँ। ऐसे व्यक्ति – समाज – राष्ट्र में परस्पर प्रेम – सहयोग – समन्वय – आदान – प्रदान होने से व्यक्ति – समाज – राष्ट्र का सर्वोदय होता है, सुख – शान्तिपूर्ण – सहअस्तित्वमय विकास से युक्त जीवन जीते हैं। इन गुणों से विपरीत व्यक्ति – समाज – राष्ट्र की जो कमियों,

गलतियों एवं दुर्घटणाओं के बारे में पढ़ा, सुना, अनुभव किया और इन सबसे जो मैंने शिक्षाएँ ली और ले रहा हूँ। इसके बारे में यहाँ संक्षिप्त दिग्दर्शन कर रहा हूँ। सविस्तार वर्णन मैंने मेरी (1) संगठन के सूत्र (2) मानव इतिहास एवं मानव विज्ञान (3) मानवीय निकृष्ट संघर्ष का इतिहास (4) भारत को गारत एवं महान् बनाने के सूत्र आदि 8–10 कृतियों में किया हूँ।

कुछ व्यक्ति तो उपरोक्त गुणों से युक्त होते हैं। परन्तु अधिकांश व्यक्ति उपरोक्त गुणों से रहित स्वार्थपूर्ण, संकीर्ण, असामाजिक जीवन जीते हैं। ऐसे व्यक्तियों की अधिकता समाज में अधिक होने के कारण समाज में भी उपरोक्त गुण नहीं होते हैं। इसलिए ऐसे समाज के समूहभूत राष्ट्र में भी उपरोक्त गुण नहीं होते हैं। जैसा कि अच्छे धारों को सही रूप से बुनने पर अच्छा वस्त्र बनता है किन्तु यदि धागा सही नहीं है या सही धारों को सही रूप से नहीं बुने गये तो सही वस्त्र नहीं बनता है वैसा ही व्यक्ति – समाज – राष्ट्र के बारे में भी जानना चाहिए। फिर उस वस्त्र से जो कुछ सही रूप से ड्रेस बनते हैं वे भी अच्छे बनते हैं। ऐसा ही योग्य व्यक्ति – समाज – राष्ट्र से जो कुछ बनता है वह भी उत्तम बनता है। इससे विपरीत यदि व्यक्ति – समाज – राष्ट्र सही नहीं है तो उनसे भी उत्तम कार्य नहीं हो सकते हैं।

मैंने बाल्यकाल से अभी तक जो 13 प्रदेशों के लाखों व्यक्तियों का अनुभव किया प्रायः उनमें से अधिकांश व्यक्ति व्यक्तित्व शून्य, असामाजिक, राष्ट्रीयता से रहित होते हैं और भी विशेष दुःखद अनुभव किया कि गरीब – सामान्य व्यक्तियों से धनी व्यक्ति, अनपढ़ से पढ़े-लिखे, ग्रामीण से शहरी व्यक्तियों में उपर्युक्त दुर्गुण ज्यादा होते हैं। कुछ व्यक्ति अच्छे होते हैं तो समाज के लोग उन्हें सहयोग, प्रोत्साहन, समर्थन तो नहीं करते हैं अपितु उनसे ईर्ष्या, द्वेष, धृणा करते हैं, निन्दा, विरोध करते हैं, बाधा डालते हैं। समाज वाले सत्ता, सम्पत्ति, प्रसिद्धि वालों के दोष, कमियों को केवल अनदेखा नहीं करते हैं परन्तु उनके समर्थन करते हैं, सहयोगी बनते हैं। इन सब कारणों से सत्ता, सम्पत्ति वाले समाज को अपनी मनमर्जी से चलाते रहते हैं। इसलिए तो समाज में अच्छे व्यक्ति आगे नहीं आते हैं, न ही अच्छा कार्य करते हैं जिससे समाज में सच्चाई-अच्छाई, समता-शान्ति, प्रेम-संगठन, समन्वय आदि नहीं होने से सामाजिक स्तर, अच्छे-अच्छे धार्मिक कार्य यथा समन्वय आदि नहीं होने से सामाजिक स्तर,

अच्छे—अच्छे कार्य यथा साधुओं की व्यवस्था, सेवा तथा चानुर्मासि, शिविर, संगोष्ठी, विहार, आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान, वसतिकादान आदि एवं सामाजिक कार्य यथा—वृद्ध, गरीब, असहाय, विकलांग, रोगी, पशु, पक्षी आदि की सेवा—सुरक्षा व्यवस्था कार्य नहीं हो पाते हैं। ऐसे समाज के समूह स्वरूप राष्ट्र में भी उपर्युक्त महान् कार्य व्यापक रूप से नहीं हो पाने से राष्ट्र में भ्रष्टाचार, अन्याय, अत्याचार, आतंकवाद, गरीबी, बेकारी, रोगी, अलगाववाद, हड़ताल, विरोध, तोड़—फोड़, मिलावट, अनुशासनहीनता, गन्दगी आदि की समस्या उत्पन्न होती है। इसलिए भारत में राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय चारित्र, राष्ट्रीय गौरव, राष्ट्रभक्ति आदि गुण कम पाये जाते हैं। इसलिए तो विश्वगुरु भारत स्वतंत्रता के 63 वर्षों के बाद भी विकसित देश की पंक्ति में नहीं आ पा रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय कोई भी संस्था का निर्माण नहीं कर पा रहा है, संयुक्त राष्ट्रसंघ में विटो पॉवर तक को प्राप्त नहीं कर पाया है।

उपरोक्त कमियों आदि को अनुभव करके मैं किसी की भी उपेक्षा — अपेक्षा — प्रतीक्षा रहित होकर चरैवेति — चरैवेति, ऐकला चालो रे, आदहिंद कादवं, उद्धरयेत् आत्मनमात्मनः के सिद्धान्त पर दृढ़ता से बढ़ रहा हूँ। इससे प्रभावित होकर देश — विदेशों के जैन — अजैन सज्जन महानुभाव मुझे तन — मन — धन — समय — श्रम से सहयोग कर रहे हैं।

मैंने दीर्घ अनुभव से यह पाया कि अधिकांश व्यक्ति — समाज तथा हमारे राष्ट्र भारत में न प्राचीन ज्ञान — विज्ञान — आध्यात्मिकता का सूक्ष्म, तलस्पर्शी, व्यापक, ज्ञान — अनुभव — आचरण है न हि आधुनिक ज्ञान — विज्ञान, पर्यावरण कानून राजनीति यहाँ तक कि इतिहास का भी सूक्ष्म, तलस्पर्शी, व्यापक, सच्चाज्ञान नहीं है न वर्तमान के भारत के व्यक्ति — समाज — राष्ट्र भारतीय प्राचीन संस्कृति, अध्यात्म के अनुसार स्वयं को योग्य बना पा रहे हैं न ही आधुनिक वैज्ञानिक, उदारवादी, प्रगतिशील, वैशिक मापदण्ड के अनुसार खरे उत्तर पा रहे हैं, इस दृष्टि से वर्तमान के भारतीय लोग पेंडुलम के समान अथवा कोल्हु के बैल जैसे संकीर्ण सीमा में ही चक्कर काट रहे हैं। इन सब का भी मैंने अनुभव करके भारतीय प्राचीन ज्ञान—विज्ञान — अध्यात्म को आधुनिक ज्ञान — विज्ञान के साथ शोधपूर्ण, तौलनिक, समीक्षात्मक अध्ययन, लेखन, अध्यापन, प्रचार—प्रसार कर रहा हूँ। अन्तर्राष्ट्रीय संविधान, कानून से भी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के अनुव्रत — महाव्रत स्वरूप उत्तम क्षमादि 10 धर्म, अन्धश्रद्धा — 4 कषाय — 7 व्यसन — 8 मद — 7 भय त्याग रूप श्रेष्ठतम शाश्वतिक — सार्वभौम संविधान और कानून होने से इसकी शिक्षा ज्यादा ले रहा हूँ। इन सब सम्बन्धी साहित्य — लेख लिख रहा हूँ। भले सच्ची धार्मिक शिक्षा

ज्ञान—विज्ञान से श्रेष्ठ है, सप्रमाण सिद्ध कर रहा हूँ। मुझे यदि प्राचीन भारत की उच्चता, महानता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता का ज्ञान नहीं होता और आधुनिक भारत की कमियों का ज्ञान नहीं होता तो मुझमें इस प्रकार की जिज्ञासा, पीड़ा एवं पुरुषार्थ संभवतः नहीं हो पाता। वर्तमान भारत एवं भारतीयों की कमी मुझे विशेषतः प्रेरणा, उत्तेजना दे रही है जिससे मेरी ऐसी भावना एवं प्रवृत्ति हो रही है।

(7) शिक्षा की कमी, गलती, दुर्धटणा से प्राप्त शिक्षाएँ -

शिक्षा (विद्या, ज्ञान—विज्ञान—आध्यात्म के शिक्षण — प्रशिक्षण) से व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है जिससे समाज — राष्ट्र — विश्व का भी सर्वांगीण विकास होता है। प्रस्तुत लेख में शिक्षा के स्वरूप, गुण—दोष, फल—कुफल आदि के बारे में प्रकाश न डालकर केवल इसकी कमी आदि से प्राप्त शिक्षा के बारे में प्रकाश डालूँगा। क्योंकि शिक्षा के स्वरूप आदि सम्बन्धी मैंने (1) सर्वादय शिक्षा मनोविज्ञान (2) शिक्षा संस्कृति एवं नारी गरिमा आदि आदि विपुल साहित्यों की रचना की है।

भले मैं लौकिक शिक्षा (भाषा, व्याकरण, गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि) में रुचि ले रहा हूँ तथा दक्षता प्राप्ति भी कर रहा हूँ तथापि इससे परमसत्य, आध्यात्मिक परिज्ञान — अनुभव — उपलब्धि — शान्ति सम्भव नहीं है, ऐसी कमियों का अनुभव करके मैं आध्यात्मिक शिक्षा में अधिक श्रद्धापूर्वक पुरुषार्थ कर रहा हूँ। आधुनिक इतिहास का मुझे ज्ञान होने पर भी मुझे अनुभव हुआ कि इसमें अनेक कमियाँ एवं गलतियाँ हैं इसलिए मैं प्रामाणिक प्राचीन /आधुनिक गणित एवं विज्ञान में मेरी विशेष रुचि एवं प्रवेश होने पर भी इनमें न परमसत्य, आध्यात्मिक सत्य का वर्णन है न ही इसकी उपलब्धि सम्भव है। अतः मैं धार्मिक — आध्यात्मिक — दार्शनिक — अलौकिक गणित का विशेष रुचिपूर्वक अध्ययन, अनुसन्धान, लेखन, अध्यापन, प्रचार—प्रसार कर रहा हूँ। भारतीय संविधान, कानून से भी अन्तर्राष्ट्रीय संविधान, कानून श्रेष्ठ होने से तथा इससे भी श्रेष्ठ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के अनुव्रत — महाव्रत स्वरूप उत्तम क्षमादि 10 धर्म, अन्धश्रद्धा — 4 कषाय — 7 व्यसन — 8 मद — 7 भय त्याग रूप श्रेष्ठतम शाश्वतिक — सार्वभौम संविधान और कानून होने से इसकी शिक्षा ज्यादा ले रहा हूँ। इन सब सम्बन्धी साहित्य — लेख लिख रहा हूँ। भले सच्ची धार्मिक शिक्षा

सर्वश्रेष्ठ है तथापि इसमें संकीर्णता, कटृता, अनुदारता, रुढ़िवादिता, स्वार्थपरता, परम्परावादिता, आडम्बर, बाह्य—क्रियाकाण्ड, रीति—रिवाज, पूजा—पाठ, दिखावा, राग—द्वेष, भेद—भाव, ईर्ष्या—घृणा, अहंकार, ओछापन, खोखलापन आदि व्याप्त होने से धर्म की पवित्रता, उदारता, सहज—सरलता, आध्यात्मिकता, सूक्ष्म—व्यापक—ज्ञान—विज्ञान—शोध—बोध आदि का प्रायः अभाव, प्रगतिशीलता—समन्वय, समता, शान्ति, व्यापकता, उदारता आदि की कमी होने से धर्म में तेजस्विता, जीवन्तता, क्रियाशीलता, प्रभावोत्पादकता कम हैं। इन सब कारणों से मैं ऐसी संकीर्णता से लेकर खोखलापन रूप धर्म से दूर रहकर पवित्रता से लेकर उदारता से युक्त वैज्ञानिक, आध्यात्मिक धर्म को अपना रहा हूँ। इन सब कारणों से मुझे स्वयं को आध्यात्मिक लाभ हो रहा है और देश—विदेशों के गुणग्राही आध्यात्मिक वैज्ञानिक धर्म के प्रेमी स्वयं प्रभावित होकर मुझसे यह सब शिक्षा ग्रहणकर देश—विदेशों में प्रचार—प्रसार कर रहे हैं।

भारत में प्रायः: निम्न विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय की स्तर तक गृहस्थ धार्मिक से लेकर धार्मिक संस्था—साधु सन्त तक में उपरोक्त शिक्षा की कमी है। इसलिए भारत में विज्ञान, राजनीति, कानून, शान्ति, स्वास्थ्य से लेकर भारत की विशेषता स्वरूप आध्यात्मिक में भी कोई विशेष उल्लेखनीय, विश्व प्रसिद्ध शोध—बोध—खोज—आविष्कार नहीं हो पा रहे हैं। लौकिक से लेकर धर्म तक में प्रायः रुढ़िवादी, तोतारटन्त, भौतिकवादी, स्वार्थसिद्धि परक, अनुदार, अनुत्पादक कागजी पढ़ाई/शिक्षा है। इन सब कारणों से शिक्षा में भी भ्रष्टाचार, तनाव, दिखावा से लेकर आत्महत्या तक की घटनायें हो रही हैं। इन सब से शिक्षा लेकर मैं सर्वोदय शिक्षा का अध्ययन—अध्यापन—लेखन—प्रचार—प्रसार कर रहा हूँ जिसके गरण मेरे साहित्यों को यू.जी.सी. ने मान्यता प्रदान किया है तथा अभिन्न विश्वविद्यालयों में शोध कार्य हेतु मेरे साहित्य कक्ष की स्थापना कर जैन—जैनेतर शोधार्थी शोध कर रहे हैं।

B) सच्चाई एवं अच्छाई से प्राप्त शिक्षायें -

मैं केवल कमी, गलती, दुर्घटणाओं से ही शिक्षा नहीं लेता हूँ परन्तु स्व—पर—विश्व के हर व्यक्ति, विषय, सत्य, तथ्य, ग्रन्थ, घटणा, जी जगत्, लौकिक—आध्यात्मिक गुरु आदि से भी शिक्षा लेता हूँ। मान्यजन जो केवल लौकिक—पुस्तक या धार्मिक ग्रन्थ तथा क्षक एवं गुरु से ही प्रायः शिक्षा प्राप्त करते हैं; मैं इसके साथ—

साथ स्व—पर कमी, गलती एवं दुर्घटणा से भी शिक्षा प्राप्त करता हूँ। “बिन जानन ते दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये” के अनुसार मैं गुण के साथ—साथ दोषों को भी जानकर दोषों को त्याग करता हूँ एवं गुणों को ग्रहण करता हूँ। इसलिए कहा है —

निन्दक नियरे राखिये, आंगन—कुटी छवाय।

बिना पानी साबुन बिना, निर्मल करे सुभाय।

अस्ति बुद्धेरियत्कार्यं यत्सत्यासत्यनिर्णयः।

तद्वक्ताऽस्तु पुनः कोऽपि सुप्रियो दुष्प्रियोऽथवा॥ (3)(कु.का.)

समझदार बुद्धि का काम है कि हर एक बात में झूठ को सत्य से पृथक् कर दे, फिर उस बात का कहने वाला कोई क्यों न हो।

सर्वेषामेव कार्याणां कृते यः पूर्वसंचितः।

तस्य कम्पक दुःखानां ना घातो दूरदर्शिनः॥ (9) कु.का.

जो दूरदर्शी व्यक्ति हर एक विपत्ति के लिए पहिले से ही सचेत रहता है, वह उस वार से बचा रहेगा जो अत्यन्त भयंकर है। अखिल तस्य कल्याण यस्यास्ति बुद्धिवैभवम्।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा तस्य किञ्चिन्न विद्यते॥ (10) कु.का. जिसके पास बुद्धि है उसके पास सब कुछ है, पर मूर्ख के पास सब कुछ होने पर भी कुछ नहीं है।

नैवाधीतं श्रुतं येन शृणुयात् सोऽपिसद्वचः।

विपदां सत्रिधाने हि शान्तिस्तेनैव जायते॥ (4)

यदि कोई मनुष्य विद्वान् न हो तो भी उसे उपदेश सुनने दो क्योंकि जब उसके ऊपर संकट पड़ेगा तब उनसे ही उसे कुछ सान्त्वना मिलेगी।

अधिगम्यं हि यज्ञानं सामस्त्येन तदर्जयेत्।

आचरे तथा नित्यं विद्याप्राप्तेरनन्तरम्॥ कु.का. पृ. 44

प्राप्त करने योग्य जो ज्ञान है, उसे सम्पूर्ण रूप से प्राप्त करना चाहिये और प्राप्त करने के पश्चात् तदनुसार व्यवहार करना चाहिये।

ऐसा ही मैं बाल्यकाल से विभिन्न तर्क शास्त्रों का अध्ययन—अध्यापन कर रहा हूँ तथापि इससे भी अधिक व्यापक, उदार, गुणग्राही अनेकान्त सिद्धान्त होने से मैं अनेकान्त को ज्यादा स्वीकार करता हूँ।

अनेकान्त के बहुत वस्तु स्वरूप को प्रतिपादन करने वाली दार्शनिक तार्किक प्रणाली नहीं है परन्तु लोक व्यवहार को सुचारू रूप से व्याख्यात करने के लिए लौकिक प्रणाली भी है।

जैम विणा: लोगस्स वि ववहारो सब्वहा ण णिवडई।

तस्मा गुवणेकगुरुणां णमो अणेणंतवायस्स ॥ (69)

जिस अनेकान्तवाद के बिना लोक—व्यवहार भी नहीं चलता है उस जगत् का एकमेव गुरु अनेकान्तवाद को मेरा नमस्कार हो।

यह अनेकान्त मानसिक अहिंसा है क्योंकि इसमें एकान्तवाद, हठाग्रह, पूर्वाग्रह नहीं है। अनेकान्त सिद्धान्त दूसरों के सत्यांश को भी स्वीकार करता है। अनेकान्त का सिद्धान्त है Right is mine अर्थात् जो सत्य है वह मेरा है। उसका दावा यह नहीं की Mine is Right अर्थात् मेरा जो है वह सत्य है। अनेकान्त वस्तु स्वरूप तथा भावात्मक अहिंसा है तथा स्पाद्वाद कथन प्रणाली या वचनात्मक अहिंसा है। इस अनेकान्त का स्पष्टीकरण करने के लिए कुछ सरल उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। जैसे — दो इंच लम्बी वाली रेखा, एक इंच वाली रेखा से लम्बी होती है तथा तीन इंच वाली लम्बी रेखा से छोटी भी है। अनामिका अंगुली कनिष्ठा से बड़ी है परन्तु मध्यमा से छोटी भी है। इसी प्रकार दिशा आदि में भी जान लेना चाहिए जैसे एक व्यक्ति के लिए दूसरा व्यक्ति पूर्व में है तो पहला व्यक्ति उसके लिए पश्चिम में होगा।

अभी भी है भारत में महान् लोग -

अभी भी भारत के हर धर्म, जाति, कार्यक्षेत्र में महान् व्यक्ति हैं भले इनकी संख्या कम क्यों न हो। सच्चे गुणग्राही लोग तो इन्हें महत्व देते हैं परन्तु अधिकांश लोग सत्ता—सम्पत्ति—प्रसिद्धि वाले तथा नेता, अभिनेता, खेलनेता, खलनेता को ही महान् मानकर उन्हें महत्व देने के कारण यथार्थ से महान् व्यक्ति ऐसे व्यक्ति रूपी मिट्टी से लिप्त हीरे के जैसे अनजान, अनुपयोगी रहते हैं। इतना ही नहीं ऐसे महान् व्यक्ति को भी तुच्छ—अनुपयोगी मानते हैं और उनकी सेवा, व्यवस्था करके उनसे लाभ लेने वालों को भी तुच्छ—अनुपयोगी मानते हैं। इसलिए भी भारत में महानता की कमी होती जा रही है, मेरा दीर्घ अनुभव से यह लिखा हूँ।

(आचार्य कनकनन्दी)

फादर्स डे के उपलक्ष्य में आ कनकनन्दी का भारतीयों को आज्ञान भो भारतीय ! न ही पाश्चात्य संस्कृति की निन्दा करो ! न ही अपसंस्कृति को अपनाओ ! - आचार्य कनकनन्दी

प्राचीन काल में भारत विश्वगुरु इसलिए रहा क्योंकि यहाँ के लोग गुणी, गुणग्राही, गुणपूजक रहे। कालान्तर में वे इनसे रहित होने के कारण भारत दीर्घकाल तक गुलाम रहा। अभी स्वतन्त्रता के 63 वर्षों के बाद भी भारत विश्वगुरु होने की दिशा से विपरीत भ्रष्ट, नकलची, गरीब, रोगी, आतंकवाद से ग्रसित, भौतिकवादी, फैशन, व्यसन, आलसी, अस्त—व्यस्त, व्यर्थ समय गमाते हुए भी समय नहीं है का बहाना, कामचोर, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, असत्य, अस्थिरता, अश्लील, फूहड़, परदोषारोपी आदि दुर्गुणों में पृथ्वी भर में प्रथम स्थान प्राप्त करने की प्रतिस्पर्द्धा में तीव्रता से अविश्राम रूप से आगे बढ़ रहा है। इस अन्धी दौड़ में स्व—महान् आध्यात्मिक संस्कृति को तन — मन — धन — समय — श्रम — साधन से कृत — कारित — अनुमोदना से भूला हुआ है। भूलता जा रहा है, भूलने के प्रयास में हैं या अनजान ही है तथापि पाश्चात्य संस्कृति की निन्दा करके तथा उनकी अपसंस्कृति की निन्दा करके तथा उनकी अपसंस्कृति (अपशिष्ट कुसंस्कृति Use and through) का नकल करके स्वयं को सभ्य, प्रगतिशील, आधुनिक, वैज्ञानिक, शिक्षित, वैशिक, श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, महान् मान रहा है। यह अन्धी दौड़ बहुत हो गई ! अभी रुको सचेत हो ! सत्य को पहचानो ! उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करो ! और उसे प्राप्त करो ! अन्यथा तुम जिसे विकास की दौड़ मान रहे हो वह तुम्हारी विनाश की दौड़ सिद्ध होगी।

वर्तमान में पाश्चात्य देशों में जो निम्नोक्त सच्चाईयाँ, अच्छाईयाँ हैं उसे जानो, मानो, पहचानो और अपनाओ। यथा—राष्ट्रीयता, राष्ट्रभक्ति, प्रामाणिकता, कर्तव्यनिष्ठा, श्रमशीलता, वैज्ञानिकता, प्रगतिशीलता, परोपकारिता, दया, सेवा, दान, पर्यावरण सुरक्षा, पशु—पक्षी — वनस्पति — प्रकृति की रक्षा, स्वच्छता, दूसरों की तथा विशेषतः भारतीय संस्कृति को जानने की — मानने की — अपनाने की जिज्ञासा—रुचि — प्रवृत्ति — शोध — बोध — खोज — अनुसंधान — आविष्कार — नवनिर्माण की तीव्रता — सनन्म सत्यग्राहीता, मिथ्या धार्मिक — सामाजिक — राजनैतिक रुद्धियों का परिमार्जन, परिवर्तन, सादा जीवन — उच्च विचार, वैशिक दृष्टिकोण, समय का सदुपयोग, अनुशासन, नियम—कानून का स्वेच्छा से परिपालन, लगनशीलता,

अवम्यसत् साहस, समय – शक्ति – बुद्धि – साधन – धन का सामुपयोग, एकाग्रता, गप्पबाजी नहीं करना, जरूरतमन्द की सेवा सहायता करना, साम्यवाद, सहअस्तित्व, सहयोग, समन्वय, संतुलन आदि-आदि। पाश्चात्य देश की सच्चाईयाँ—अच्छाईयाँ हैं; इसे जानो — मानो एवं अपनाओ। इसके साथ पाश्चात्य अपसंस्कृति स्वरूप फैशन, व्यसन, समलैंगिकता, लिव इन रिलेशनशिप (विवाह पूर्व दो युवक—युवती का एक साथ रहना) यौन सम्बन्ध करना, हिंसात्मक — भारतीय संस्कृति भौगोलिक परिस्थिति के प्रतिकूल खान-पान, रहन—सहन, वेश—भूषा, सम्बोधन, गाना, नृत्य, दवा, व्यवहार आदि च्यागना।

भो भारतीय ! केवल दूसरों की निन्दा, ईर्ष्या करने से, प्राडम्बर नकल से, बिना परिश्रम से भ्रष्टाचार से धन — मान — सम्मान — डिग्री — जन संग्रह से, विदेशी सहयोग या ऋण से जो तुम शेक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, वृक्षारोपण, गरीबी उन्मूलन, भौतिक निर्माण औरके स्वयं व विकासशील, विश्वशक्ति, सभ्य, सम्बृद्ध, सुरक्षित, शोक्षित, वैज्ञानिक, सम्पन्न, उन्नत, महान् होने का ढोंग कर रहे हो यह तो तुम्हारी गुलामी, कमजोरी, विवशता, अकर्मण्यता का प्रतीक है। तः अभी समय आ गया है कि तुम अपेक्षा — उपेक्षा — प्रतीक्षा रहित कर प्रबल पुरुषार्थ से स्वयं की कमियों — गलतियों को दूर करके सरों की सच्चाई — अच्छाई को स्वीकार करके या उससे शिक्षा कर सर्वोदय (भौतिक — शारिरिक — मानसिक — आध्यात्मिक) वर्गीण विकास करो। अन्यथा पूरी दुनिया कोई मूर्ख नहीं है जो हारी मूर्खता, दिखावा को नहीं समझे। ध्यान रखो ! दूसरों को ने वाला स्वयं ही ठगा जाता है और जो स्वयं का उद्घार करता है विश्व का भी उद्घार करता है। इस लिए ही कहा गया है कि “पाप भला तो जग भला”, अतएव तुम स्वयं दीपक के समान पहले ज्वलित होकर स्व — पर प्रकाशी बनो।

विदेशी नागरिकों में जैन धर्म की प्रभावना

(आ. कनकनन्दी के शिष्य डॉ. कछारा द्वारा विदेशों में प्रभावना —

डॉ. नारायणलाल कछारा जी आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव रो प्रायः 10–11 वर्षों से वैज्ञानिक आध्यात्मिक जैन धर्म के विविध विषयों को आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करके तत्सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण साहित्यों की रचना (हिन्दी एवं अंग्रेजी में) कर रहे हैं; अमेरिका दो बार, लंदन एक बार, विश्व धर्म सभा आस्ट्रेलिया एक बार, भारत के विभिन्न विश्वविद्यालय एवं वैज्ञानिक संगोष्ठियों में जाकर धर्म की प्रभावना करने के उपलक्ष्य में आचार्य श्री कनकनन्दी जी (ससंघ) के आशीर्वाद से उन्हें ‘जैन ज्ञान विज्ञान मनीषी’ एवं ‘विश्व धर्म प्रभाकर’ उपाधि से अलंकृत किया गया है। कछारा जी आचार्य श्री द्वारा आशीर्वाद प्राप्त धर्म—दर्शन सेवा संस्थान के सचिव भी हैं।)

जैन अध्ययन हेतु इन्टरनेशनल समर स्कूल नामक संस्था विदेश में जैन धर्म की प्रभावना के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। यह संस्था अमेरिका, कनाडा, इंग्लैण्ड आदि देशों में विश्वविद्यालय और महाविद्यालय के चयनित अध्यापकों, शोध छात्रों और विद्यार्थियों को भारत में जैन धर्म पर प्रशिक्षण प्रदान करती है। प्रशिक्षित विद्यार्थी अपनी—अपनी संस्थाओं में जैन धर्म का प्रचार—प्रसार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। ऐसे प्रशिक्षणार्थियों के यात्रा, भोजन, आवास आदि सम्पूर्ण व्यय की व्यवस्था इसी संस्था द्वारा की जाती है। अमेरिका में संस्था का कार्य प्रो. क्रोमवेल क्राफर्ड एवं डॉ. सुलेखचन्द जैन तथा भारत में डॉ. सुगनचन्द जैन देख रहे हैं। पिछले पाँच वर्षों में नौ देशों के 20 विश्वविद्यालयों के 122 छात्र इस कार्यक्रम से लाभान्वित हो चुके हैं।

वर्ष 2010 में 44 विद्यार्थियों का एक दल, जिसमें 18 स्नातक, 13 परास्नातक तथा 13 अध्यापक और शोध छात्र हैं, भारत आया है। इन का एक सप्ताह का सम्मिलित प्रशिक्षण दिल्ली में आयोजित किया गया। शेष समय के कार्यक्रम जयपुर, वाराणसी और मुम्बई में आयोजित किये गये हैं जिसके लिए दल को तीन समूह में बांटा गया है। इस दल को कर्म सिद्धान्त पर व्याख्यान देने हेतु मुझे दिल्ली आमंत्रित किया गया। लगभग 2.5 घण्टे के दो व्याख्यान में कर्म सिद्धान्त के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पक्ष पर पावर पाइंट के माध्यम से प्रस्तुति दी गई जिसे श्रोताओं ने बहुत सराहा और जिज्ञासावश प्रश्नों की झड़ी लगा दी जिसका यथोचित समाधान किया गया।

डॉ. नारायणलाल कछारा

अन्तर्रंग सफलता के सूत्र

—आचार्य कनकनन्दी

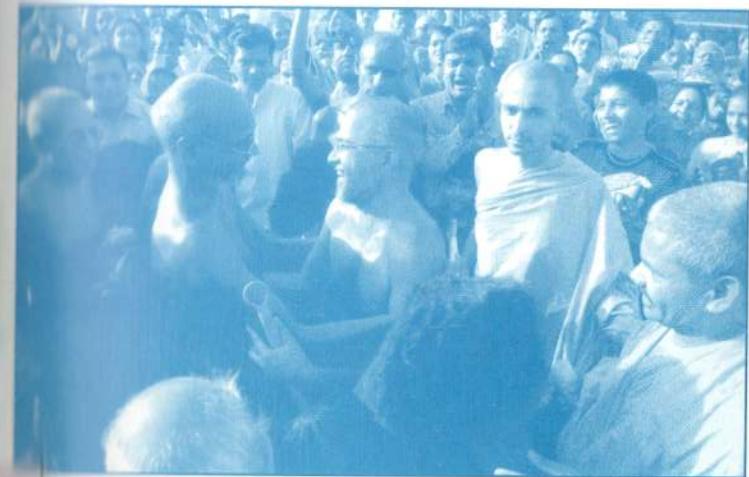
1. जिस प्रकार कि आँखें स्वयं को नहीं देखती है परन्तु दूसरों को देखती है उसी प्रकार मानव (स्व—आत्मत्व) की न शिक्षा लेता है न ही स्वयं का विकास करता है इसलिए तो शिक्षा ऐसा मानव भले वह सेठ—साहुकार, नेता, मंत्री, चक्रवर्ती या और कुछ भी क्यों न बन जाये यथार्थ से असफल दुःखी रहता है।
2. ऊष्ण प्रसवण (गर्भ जल का स्रोत या उबलता पानी) का पानी जिस प्रकार से अन्दर से बाहर आवेश पूर्वक निकलता है उसी प्रकार अशान्तात्मा की शक्ति बाहर निकल जाती है।
3. जिस प्रकार कि कृषक खेत में बीज आदि बो (वपन) कर खेत का उपकार नहीं करता है अपितु स्वयं ही उपकृत होता है उसी प्रकार जो दूसरों के लिए उपकार करता है, अच्छा भाव—व्यवहार करता है तो वह वस्तुतः स्वयं मुख्यतः उपकृत होता है भले दूसरे उपकृत हो या न हो।
4. जो स्वयं के ऊपर अधिक से अधिक अनुशासन करता जाता है उसके ऊपर दूसरों का अनुशासन उतना ही कम होता है जाता है। अतः आत्मानुशासी ही यथार्थ से स्वतंत्र/सुखी/सफल है। आत्मानुशासी वह है जो स्वयं के शरीर—मन इन्द्रिय—वचन—कषायों को स्वयं के अधीन में रखता है।
5. स्व—पर के गुणों से शिक्षा प्राप्त करने से भी स्व—पर के दोष—कमियों से शिक्षा प्राप्त करना अधिक सुलभ है क्योंकि गुणों से दोषों की संख्या/उपलब्धता/मात्रा अधिक है तथा गुणकारी भी अधिक है तथापि इसे केवल सन्म्र, गुणग्राही, उदार, विकासशील/प्रगतिशील महान् व्यक्ति ही स्वीकार कर पाते हैं।
6. प्रत्येक उपलब्धि का सदुपयोग कल्याणकारी है तो दुरुपयोग विनाशकारी है भले वह उपलब्धि शारीरिक—मानसिक—वाचनिक—भौतिक—लौकिक आदि कुछ भी क्यों न हो। अधिकांश मानव स्व उपलब्धियों का सदुपयोग कम करता है तथा दुरुपयोग अधिक करता है इसलिए तो 6 महिना 8 समय में केवल 108 जीव मुक्त होते हैं।

आ. कनकनन्दी के शिष्य का सम्मान



वैज्ञानिक संगोष्ठी, बैंगलोर में इसरो के वैज्ञानिक से प्रशस्ति पत्र प्राप्त करते हुए आ. कनकनन्दी के शिष्य डॉ. कच्छारा। (2010)

द्वे आचार्यों का संसंघ मिलन



वैष्णो के बाद आ. कनकनन्दी संसंघ एवं आ. विरागसागर संसंघ का वात्सल्यमयी मिलन। (डूंगरपुर—2010)

अध्यापन



आ. कनकनन्दी स्वसंघ तथा स्व-शिष्य प्रो. सुशील, प्रो. प्रभात,
डॉ. प्रो. कच्छारा सपलीक आदि को 'रहस्य के रहस्य' का अध्यापन
कराते हुए (रामगढ़-2010)

रामगढ़ को उपाधि प्रदान



रामगढ़ में 2009 के वर्षयोग के अन्तर्गत 9½ माह प्रवास में रामगढ़ वालों की
भावना-भक्ति-व्यवस्था तथा सहयोग से देश-विदेशों में धर्मप्रभावना के कारण
आ. कनकनन्दी संस्था तथा शिष्य-भक्तों की तरफ से रामगढ़ को
'गुरुभक्त सांस्कृतिक ग्राम' उपाधि प्रदान करते हुए आ. कनकनन्दी (रामगढ़-2010)